आदिवासियों के बीच दलित

वंचना का एक और संसार

कमल नयन चौबे

भारत में कुछ क्षेत्रों की पहचान विशेष रूप से अनुसूचित जनजातियों या आदिवासियों के निवास के लिए की गयी है। साथ ही उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिए विशेष संवैधानिक प्रावधान भी किये गये हैं।[1] लेकिन, ऐसा लगता है कि आदिवासियों के हक़ सुनिश्चित करने की चिंता में हमारे नीति-निर्माताओं ने ग़ैर-आदिवासियों के हितों का ख़याल नहीं रखा है। वे यह भूल गये हैं कि पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों या देश के अन्य भागों के वन-क्षेत्रों में आदिवासियों के साथ दलितों (अनुसूचित जातियों) और पिछड़ी जातियों या सामान्य वर्ग में, आने वाले लोगों का एक बड़ा समूह भी रहता है। प्रश्न यह है कि क्या आदिवासी क्षेत्रों में रहने वाले दलितों के साथ संवैधानिक प्रावधान और संसद द्वारा निर्मित क़ानून न्याय करते हैं? असल में, इन विविध श्रेणियों के बारे में एक नहीं बल्कि कई बुनियादी प्रश्न हैं। मसलन, क्या इन श्रेणियों (मसलन, पाँचवीं अनुसूची, अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति इत्यादि) के निर्माण की प्रक्रिया ने आदिवासी क्षेत्रों में विशेष रूप से दलितों[2] की स्थिति अत्यंत दुर्बल और दयनीय बना दी है? क्या इन श्रेणियों ने दलित समूहों के जीवन में कोई सकारात्मक बदलाव भी किया है? क्या इन विविध श्रेणियों के निर्माण से राज्य सिर्फ़ उन्हें शासकीयता (गवर्नमेंटैलिटी) के अधीन लाया है, और अधिकतर मामलों में उनके

---

[1] इन क्षेत्रों में उत्तर-पूर्व के क्षेत्रों के लिए संविधान की छठी अनुसूची और शेष भारत के आदिवासी बहुल क्षेत्रों के लिए पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत विशेष संवैधानिक प्रावधान किये गये हैं. बाद के समय में संसद द्वारा निर्मित कई क़ानूनों के माध्यम से आदिवासियों के सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा करने, उनकी स्वायत्त जीवन-शैली को क़ायम रखने और वन संसाधनों पर उनके अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण क़ानूनों का निर्माण किया गया. इस संदर्भ में *पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम 1996* (पेसा) और *अनुसूचित जनजाति और अन्य पारम्परिक वन निवासी (वन अधिकार मान्यता)* क़ानून, *2006* (वन अधिकार क़ानून) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं. पेसा मुख्य रूप से संविधान की पाँचवीं अनुसूची में सम्मिलित क्षेत्रों के लिए है, वहीं वन अधिकार क़ानून पूरे देश के वन क्षेत्रों से संबंधित है.

[2] इस शोध-आलेख में अनुसूचित जनजातियों के लिए आदिवासी और अनुसूचित जातियों के लिए दलित शब्द का प्रयोग किया गया है. हालाँकि कई ऐसे समूह हैं, जो यह दावा करते हैं कि वे आदिवासी हैं, लेकिन वे अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का भाग नहीं हैं. इस तरह

हाशियाकरण को भी बढ़ावा दिया है? क्या वे राज्य द्वारा थोपी गयी विविध श्रेणियों के साथ निरंतर उलझाव और संघर्ष की स्थिति में जीने के लिए अभिशप्त नहीं हो गये हैं?

प्रस्तुत शोध-आलेख का लक्ष्य आदिवासी इलाक़ों की विविध श्रेणियों (छठी अनुसूची, पाँचवीं अनुसूची और वन क्षेत्रों) में दलितों के क़ानूनी और व्यावहारिक हाशियाकरण की परिघटना का विश्लेषण करना है। इस संदर्भ में विविध श्रेणियों के निर्माण के इतिहास, इनसे जुड़े प्रावधानों के अध्ययन के माध्यम से दलितों की स्थिति और उनकी निरंतर वंचना का परीक्षण किया गया है। विशेष रूप से पाँचवीं अनुसूची और इसके लिए बने क़ानून पेसा तथा वन अधिकार क़ानून (यह पूरे देश के वन क्षेत्रों के लिए है) के प्रावधानों की जाँच करते हुए फ़ील्डवर्क के विविध अनुभवों के माध्यम से दलितों की निरंतर वंचना की विवेचना की गयी है। श्रेणीकरण की समस्याओं को दर्शाने के लिए कुछ अन्य श्रेणियों (मसलन छठी अनुसूची) के अंतर्विरोधों को भी रेखांकित किया गया है। यह आलेख चार भागों में बँटा हुआ है : पहले भाग में भारत में श्रेणीकरण या कैटेगॅराइज़ेशन के इतिहास की पड़ताल करते हुए औपनिवेशिक दौर में 'आदिवासी क्षेत्रों' (अर्थात् वे क्षेत्र जिनके बारे में यह माना गया कि यहाँ मुख्य रूप से आदिवासी ही रहते हैं) से संबंधित विविध श्रेणियों और उनके निहितार्थों का विश्लेषण है। दूसरा भाग स्वतंत्र भारत में संवैधानिक प्रावधानों और विविध क़ानूनों के माध्यम से बनी श्रेणियों, औपनिवेशिक दौर की श्रेणियों की निरंतरता, उनमें बदलाव और उनके प्रभावों को रेखांकित करता है। इसमें छठी अनुसूची के प्रावधानों और इनमें अंतर्निहित दलित बहिष्करण की सम्भावनाओं की पड़ताल है। तीसरे भाग में पाँचवीं अनुसूची और पेसा के प्रावधानों का विश्लेषण है, और उसके कारण क़ानूनी रूप से दलितों की दुर्बल स्थिति रेखांकित की गयी है। चौथे भाग में वन अधिकार क़ानून द्वारा निर्मित श्रेणियों के संदर्भ में दलितों की जीविका और अधिकारों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन है। इस संदर्भ में विशेष रूप से वन गाँवों और इससे संबंधित एक अन्य श्रेणी अर्थात् टांगिया गाँवों के अनुभवों का परीक्षण किया गया है।[3] आलेख के आख़िरी अध्याय में आदिवासी इलाक़ों में दलितों की निरंतर वंचना के संदर्भ में श्रेणीकरण को ज़्यादा लोकतांत्रिक बनाने के संदर्भ में कुछ सुझाव दिये गये हैं।

I

'आदिवासी क्षेत्र' और विविध श्रेणियों का उलझाव : औपनिवेशिक अनुभव

भारत में जनसंख्या के तमाम समूहों के व्यवस्थित वर्गीकरण की शुरुआत औपनिवेशिक दौर से आरम्भ हुई। यह माना जाता रहा है कि व्यापक जनसंख्या को उसकी विशिष्टताओं और आवश्यकताओं के संदर्भ में अलग-अलग भागों में बाँट कर या उनके लिए अलग-अलग श्रेणियों का निर्माण करके उनकी भलाई के लिए ज़्यादा व्यवस्थित तरीक़े से कार्य किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि यदि सरकार को पता हो कि जनसंख्या का कौन से समूह किस क्षेत्र में ज़्यादा संख्या में है, कौन से समूह ग़रीबी और भुखमरी से जूझ रहे हैं तो वह उन समुदायों को ध्यान में रख कर ज़्यादा बेहतर नीतियाँ बना सकती है।[4] बहरहाल, जनसंख्या को विविध समूहों में बाँटने और नवीन श्रेणियों के

का कोई उदाहरण आने पर अलग से उसका उल्लेख किया गया है.

[3] वन अधिकार क़ानून में वन-गाँवों को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि वन-गाँव ऐसी बस्ती या गाँव है, जिन्हें किसी भी राज्य सरकार के वन विभाग के द्वारा वानिकी के काम के लिए जंगल के भीतर बसाया गया है, या जिन्हें वनों के आरक्षण की प्रक्रिया के माध्यम से वन गाँवों में बदल दिया गया, और इसमें वनों में बसे गाँव, सुनिश्चित माँग वाले स्वामित्व, हर प्रकार के टांगिया गाँव सम्मिलित हैं, चाहे इनका नाम कुछ भी हो, और इसमें सरकार की अनुमति से खेती और अन्य उपयोगों के लिए दी गयी ज़मीन सम्मिलित है। देखें सेक्शन 2(एफ़), 3 (एच), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007).

[4] दरअसल, यह राजनीतिक गोलबंदी का एक सशक्त साधन भी है, जिसके द्वारा वंचित समूहों को एक पहचान के अंतर्गत लाने में कामयाबी मिल सकती है. मसलन, औपनिवेशिक दौर में मुस्लिमों के पृथक् निवार्चक मण्डल की उपस्थिति और डॉ. आम्बेडकर द्वारा दलितों के

निर्माण के बारे में सिर्फ़ विभिन्न समुदायों की भलाई का तर्क ही महत्त्वूपर्ण नहीं है, बल्कि इसके पीछे जनसंख्या के नियमन और नियंत्रण की मंशा भी रही है। यह प्रक्रिया आधुनिकीकरण के साथ आगे बढ़ी और इसका वर्चस्व लगातार बढ़ता गया। मिशेल फ़ूको ने यह तर्क दिया है कि समाज में विभिन्न श्रेणियों का निर्माण आधुनिक समय की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है, जिसके माध्यम से अलग-अलग समूहों का नियमन किया जाता है। फ़ूको इसे गवर्नमेंटैलिटी या शासकीयता की संज्ञा देते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो हर स्तर के लिए एक निश्चित दायरा या भूमिका तय कर देती है और इस तरह हर स्तर का प्रभाव-क्षेत्र सुपरिभाषित और सीमित भी हो जाता है।[5] इस तरह, हर समूह एक ख़ास तरह से शक्ति के दायरे का हिस्सा बन जाता है, और इसके माध्यम उसे नियंत्रित किया जाता है।

फ़ूको के विचारों को अपनाते हुए जेम्स स्कॉट ने दिखाया है कि राष्ट्रीय भू-क्षेत्र के सर्वे और मैपिंग तथा जनसंख्या की गणना और वर्गीकरण सत्ता की तकनीक रहे हैं। इनके कारण चीज़ें ज़्यादा सरलीकृत रूप में सामने आ पाई हैं। इसने सामाजिक जीवन को 'लेजिबल' (या ज़्यादा स्पष्ट) बनाया है, और इसका तार्किक नियंत्रण करना ज़्यादा आसान हो गया है।[6] विशेष रूप से औपनिवेशिक संदर्भ में विचार करते हुए कई विद्वानों ने यह दलील दी है कि औपनिवेशिक राज्य ने मापन की तकनीक द्वारा अपनी प्रजा को शासित किया। इस प्रकार का तर्क देने वाले विद्वानों में बरनार्ड कॉन और निकोलस बी. डर्क्स का नाम सबसे प्रमुख है। इनके मुताबिक़ पूर्व-आधुनिक दौर में राज्य अपनी शक्ति प्रदर्शन करने के लिए प्रत्यक्ष साधनों पर निर्भर था। लेकिन आधुनिक (युरोपीय) राज्य ने इससे भिन्न तरीक़ों को अपनाते हुए अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। उसने धीरे-धीरे अपने स्थान को सीमित और चिह्नित करने, सम्पत्ति बेचने जैसे लेन-देन का रेकार्ड करने, अपनी जनसंख्या की गणना और वर्गीकरण करने तथा जन्म, विवाह और मृत्यु जैसे जीवन-चक्र के तथ्यों को दर्ज करने का काम धार्मिक संस्थाओं से अपने हाथ में ले लिया। राज्य ने इनके माध्यम से आधिकारिक प्रक्रियाओं और रोज़मर्रा की गतिविधियों पर सरकारी नियंत्रण का विस्तार किया।[7] सुदीप्त कविराज ने अंग्रेज़ों के पहले और बाद के दौर के भारत के संदर्भ में यह विचार व्यक्त किया है कि अंग्रेज़ों के पहले के भारत में 'समुदायों' का सीमा-क्षेत्र 'धुँधला' था। अर्थात् यह सीमा-क्षेत्र ऐसा था जिसके आधार पर कोई ठोस विभाजन नहीं किया जा सकता था। अंग्रेज़ों के शासन वाले भारत में इन 'धुँधली' पहचानों की गणना की गयी। इस प्रक्रिया में इनका मानकीकरण हुआ और इन्होंने ऐसा ठोस रूप धारण किया जिससे शासकीयता सुनिश्चित हुई।[8]

भारत में पहले से अस्पृश्य, आदिवासी (या वनवासी), और वन मौजूद थे, लेकिन औपनिवेशिक शासन ने इन्हें परिभाषित करते हुए विशिष्ट श्रेणियों के रूप में विकसित किया। मसलन, अंग्रेज़ों ने वन संसाधनों का व्यवस्थित दोहन करने के लिए 1864 में वन विभाग की स्थापना की। इसके बाद 1865 का वन अधिनियम बना। इसकी कमियों को दूर करने के लिए एक ज़्यादा व्यापक वन अधिनियम 1878 में बना।[9] इन औपनिवेशिक क़ानूनों ने 'एमिनेंट डोमेन' (राज्य की सम्प्रभुत्ता) के दावे की

लिए ऐसे ही निर्वाचक मण्डल की माँग के पीछे मुख्य सोच यही थी कि एक पृथक् श्रेणी के रूप में इन निर्वाचक मण्डलों द्वारा चुने गये प्रतिनिधि इन समूहों के लिए ज़्यादा सजग और सक्रिय रूप से काम करेंगे. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में इसी प्रकार की कई श्रेणियाँ राजनीतिक गोलबंदी का साधन बनी हैं. अक्सर राज्य द्वारा दिये जाने वाले आरक्षण जैसे लाभ प्राप्ति के लिए कई समूह किसी विशिष्ट श्रेणी में शामिल किये जाने की माँग करते रहे हैं.

[5] मिशेल फ़ूको (1991).

[6] जेम्स स्कॉट (1998).

[7] बरनार्ड कॉन और निकोलस डर्क्स (1988).

[8] सुदीप्त कविराज (1994).

[9] 1878 के वन अधिनियम के बनने से संबंधित वाद-विवाद और औपनिवेशिक वन प्रबंधन के प्रभावों की समझ के लिए देखें, गाडगिल

पुष्टि की। 1878 के वन अधिनियम में किसी भी भू-क्षेत्र को 'वन' घोषित करने की प्रक्रिया का स्पष्ट वर्णन किया गया। इसके मुताबिक़ सरकार (वन विभाग) किसी भी क्षेत्र को वन घोषित कर सकती है, और यदि किसी व्यक्ति का उस भूमि पर कोई दावा है तो उसे अपने दावे के पक्ष में 'लिखित दस्तावेज़' प्रस्तुत करना होगा। साथ ही, यदि कोई व्यक्ति अपने दावे के पक्ष में लिखित दस्तावेज़ प्रस्तुत करता है तो भी सरकार 'लोक हित' में उचित मुआवज़ा देकर उस भूमि का अधिग्रहण कर सकती है।[10] 1927 में इस वन अधिनियम में संशोधन करके वन अधिनियम-1927 बनाया गया। किंतु इसमें भी वनों के निर्माण की यही प्रक्रिया जारी रही। इस तरह, इस क़ानून के चलते वन भूमि पर अपने सदियों के निवास का प्रमाण न देने वाले वन निवासी समुदाय 'अतिक्रमक' घोषित कर दिये गये। औपनिवेशिक दौर में अलग-अलग समय पर क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट बनाया गया। इस तरह का पहला क़ानून क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट-1871 था। इसे उत्तर भारत में लागू किया गया। बाद में, कई अन्य राज्यों में ऐसे ही क़ानून बने जिन्हें 1924 में क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट के अंतर्गत एक क़ानून के अधीन कर दिया गया। इन विविध अधिनियमों द्वारा तक़रीबन डेढ़ सौ से दो सौ समुदायों को वंशानुगत अपराधियों की श्रेणी में डाल दिया गया। इन समुदायों के सदस्यों पर निगरानी रखी जाती थी, उन्हें क़ैद किया जाता था और उनके साथ अत्यधिक भेदभाव भरा व्यवहार किया जाता था। जिन समुदायों को 'अपराधी' की श्रेणी में शामिल किया गया। उनमें से अधिकांश समुदाय घुमंतू थे और वे अपनी जीविका की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते थे।[11]

औपनिवेशिक राज्य ने आदिवासियों के लिए कई 'उदार' क़ानूनों और श्रेणियों का निर्माण भी किया, जिनका मक़सद अपने 'उदार' चेहरे को प्रस्तुत करने के साथ-ही-साथ इनके विरोध को शांत करना भी था। असल में, एक जनजाति की विशेषताओं का स्पष्ट निर्धारण होने से पहले ही अंग्रेज़ों ने मुख्य रूप से जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासन की पृथक् व्यवस्था करनी आरम्भ कर दी। इसमें इन क्षेत्रों के लिए विशेष क़ानूनी प्रावधान करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि सामान्य क़ानून इन क्षेत्रों में लागू नहीं होंगे। मसलन, वर्तमान झारखण्ड के सिंहभूम क्षेत्र में अंग्रेज़ों ने 1833 के रेग्युलेशन-XIII को लागू किया जो पहले से रामगढ़ और जंगल महल के क्षेत्रों में लागू था। इसे विलकिंसन के नियम के रूप में भी जाना गया, जिसमें यह प्रावधान किया गया कि शेष भारत में लागू नियम इन ज़िलों में लागू नहीं होंगे तथा गवर्नर जनरल का राजनीतिक प्रतिनिधि यहाँ का प्रशासन सँभालेगा। इन क्षेत्रों को नॉन रेग्युलेशन प्रॉविंसेज़ के रूप में जाना गया। 1874 में एक अन्य क़ानून पारित हुआ जिसने नॉन रेग्युलेशन क्षेत्रों को अनुसूचित ज़िलों का दर्जा दिया और इनके भौगोलिक क्षेत्र को परिभाषित किया। इसी तरह, उत्तर-पूर्व के लिए अंग्रेज़ों ने 1873 में इनर लाइन रेग्युलेशन लागू किया, जिसमें यह प्रावधान किया गया कि एक सीमा के बाद उपनिवेश के सामान्य क़ानून यहाँ लागू नहीं होंगे।[12]

1919 के भारत शासन अधिनियम में अनुसूचित ज़िलों का 'पिछड़े क्षेत्र' का दर्जा दिया गया। यहाँ गवर्नर जनरल स्थानीय अधिकारियों की मदद से प्रशासन का कार्य देख सकता था। दूसरी ओर 'वास्तविक रूप से पिछड़े क्षेत्रों' (उत्तर-पूर्व) की व्यवस्था की गयी, जिनकी प्रशासन की ज़िम्मेदारी सीधे तौर पर गवर्नर जनरल की थी। बाद में, साइमन कमीशन ने इन्हें क्रमश: 'आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' और 'पूर्ण रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' का दर्जा दिया। स्पष्टत: 'बहिष्कृत' और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत' शब्दावली का प्रयोग तथाकथित 'मुख्यधारा' और 'प्रशासन' के नियंत्रण से दूरी के आधार पर किया गया।[13] दूसरी ओर,

---

और गुहा (1992).

[10] छत्रपति सिंह (1986).

[11] इस संदर्भ में विस्तृत विवेचना के लिए देखें, संजय निगम (1990).

[12] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2014) : 64.

[13] वही : 64.

छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशक में बिरसा मुण्डा के विद्रोह के बाद बना था। इसमें छोटानागपुर के इलाक़े में आदिवासियों के भू-अधिकारों को सुरक्षा दी गयी।

आरम्भ से ही 'पूर्ण रूप से बहिष्कृत' क्षेत्रों (कई बार इनके लिए 'बहिष्कृत' क्षेत्र शब्दावली का ही प्रयोग किया जाता है) को आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्रों की तुलना में ज़्यादा स्वायत्तता प्रदान की गयी। स्पष्टत: विविध क्षेत्रों को अलग-अलग श्रेणियों में डालने के पीछे मुख्य सोच यह था कि इन क्षेत्रों में बेहतर प्रशासन सुनिश्चित हो और इन क्षेत्रों में रहने वाले जनसंख्या समूह पर नियंत्रण स्थापित किया जाए। सबसे पहले हिंदू जातियों से अलग समूह के रूप में जनजाति को 1931 की जनगणना में ही स्पष्ट रूप से अलग किया गया। हालाँकि पहले की जनगणना में भी ऐसे प्रयास किये गये, किंतु उनमें अलग-अलग कसौटियों का प्रयोग किया गया। बहरहाल, 1931 की जनगणना में जिन समूहों का धार्मिक व्यवहार 'हिंदू' के रूप में था, उन्हें जाति की श्रेणी में डाला गया और जो समूह एनिमिस्टिक (जड़ात्मवादी) थे, उन्हें जनजाति की श्रेणी में डाल दिया गया। इसी जनगणना में भारतीय उपमहाद्वीप में जनजातियों की सूची तैयार करने की कोशिश की गयी। 1935 के भारत शासन अधिनियम में बहुत से जनजाति समूहों को अनुसूचित जनजाति के रूप में श्रेणीबद्ध किया गया।[14]

इस संदर्भ में हमें यह याद रखने की आवश्यकता है कि जनजातियों को ध्यान में रखते हुए औपनिवेशिक राज्य ने 'पूर्ण रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' की जो रूपरेखा तैयार की, उसमें उन क्षेत्रों में रहने वाले ग़ैर-जनजाति समूहों और उनके हितों की सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया। इनमें दलित जातियों को विशेष वंचना का सामना करना पड़ा, क्योंकि सामाजिक स्तर पर इनकी स्थिति आदिवासियों की तरह ही थी, या कई मामलों में उनसे भी बुरी थी क्योंकि इन्हें 'मुख्यधारा' के समाज में अस्पृश्यता का सामना करना पड़ता था। जनगणना में दलित जातियों के वर्णन के संदर्भ में मुख्य रूप इस आधार पर सहमति रही कि जो जातियाँ अस्पृश्यता का शिकार हैं, उन्हें एक अलग श्रेणी में रखा जाएगा। इस संदर्भ में पहले डिप्रेस्ड क्लासेज़ शब्दावली का प्रयोग किया गया, और 1935 के भारत शासन अधिनियम के बाद इनके लिए शेड्यूल्ड कास्ट्स या अनुसूचित जाति शब्दावली का प्रयोग हुआ।[15] डॉ. भीमराव आम्बेडकर के प्रयासों के कारण दूसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैक्डॉनल्ड

जनजातियों को ध्यान में रखते हुए औपनिवेशिक राज्य ने 'पूर्ण रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत क्षेत्र' की जो रूपरेखा तैयार की, उसमें उन क्षेत्रों में रहने वाले ग़ैर-जनजाति समूहों और उनके हितों की सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया। इनमें दलित जातियों को विशेष वंचना का सामना करना पड़ा, क्योंकि सामाजिक स्तर पर इनकी स्थिति आदिवासियों की तरह ही थी, या कई मामलों में उनसे भी बुरी थी क्योंकि इन्हें 'मुख्यधारा' के समाज में अस्पृश्यता का सामना करना पड़ता था।

---

[14] कमल नयन चौबे (2015क) : 8-9.

[15] इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 1931 के जनगणना कमिश्नर जे. एच. हटन ने अस्पृश्य समुदायों को पहचानने के लिए कई कसौटियों को पेश किया, जिसमें ब्राह्मणों द्वारा उनसे अस्पृश्यता बरतने, उनसे किसी हिंदू जाति द्वारा पानी न लेने, हिंदू मंदिरों में प्रवेश वर्जित होने, सड़क, कुओं या स्कूल का उपयोग वर्जित होने आदि जैसी कसौटियों को रखा गया. लेकिन अस्पृश्यता के किसी एक निर्धारक कारक के न होने के कारण इस पर काफ़ी वाद-विवाद हुआ. इस संदर्भ में आम्बेडकर ने यह तर्क दिया कि मुख्य लक्ष्य उन समुदायों की पहचान करना है जो उच्च जातियों की अवमानना और घृणा का सामना कर रहे हैं. उन्होंने यह चेतावनी दी कि यह मानना एक घातक ग़लती होगी कि अस्पृश्यता के परीक्षण में भिन्नता अछूतों की स्थिति में अंतर की ओर संकेत करती है. मार्क गैलेंटर (1984) : 129 में उद्धृत काफ़ी वाद-विवाद के बाद इस बात पर सहमति बनी कि जिन जातियों के मंदिर में जाने पर पाबंदी है और जिन्हें छूने या जिनके पास आने मात्र

द्वारा घोषित कम्युनल अवार्ड में दलित जातियों (डिप्रेस्ड क्लासेज़ के अंतर्गत सूचीबद्ध जातियों) के लिए पृथक् निवार्चक मण्डल की व्यवस्था की गयी। गाँधी ने इसे हिंदू और भारतीय समाज के लिए विभाजनकारी मानते हुए इसका विरोध करते हुए आमरण अनशन किया। इसके बाद 'पूना पैक्ट' हुआ, जिसमें अन्य बातों के अलावा दलितों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में विधायिका में सीटों को आरक्षित करने पर सहमति बनी।[16]

बहरहाल, औपनिवेशिक दौर में ही यह समझ बन चुकी थी कि 'आदिवासी' (जिनके लिए अमूमन 'ट्राइब्स' शब्द का प्रयोग किया जाता था) कुछ ख़ास क्षेत्रों में रहते हैं, और वहाँ उनके हितों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधान किये गये। दलितों के लिए इस तरह के विशेष क्षेत्रों की शिनाख़्त नहीं की गयी। इसका कारण यह था कि ये तक़रीबन सभी क्षेत्रों में कम या ज़्यादा संख्या में मौजूद थे। औपनिवेशिक दौर में जिन क्षेत्रों की पहचान आदिवासी क्षेत्रों ('पूर्ण रूप से बहिष्कृत' और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत' क्षेत्र) के रूप में की गयी, वहाँ दलित जातियों के हितों की सुरक्षा के लिए किसी विशेष क्षेत्र के निर्धारण जैसी कोई परिकल्पना सामने नहीं आयी। हालाँकि सुखदेव थोराट के अनुसार, आम्बेडकर ने पहले 1943 में और फिर 1946 में ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के लिए पृथक् गाँव बनाने का प्रस्ताव किया। वे चाहते थे कि पूर्व-अछूतों के लिए बस्ती या गाँव ऊँची जाति की बस्तियों/गाँवों से दूर बसाये जाए जिनमें दलितों के पास जीविका का अपना स्वतंत्र साधन हो ताकि दलित भौगोलिक और आर्थिक रूप से उच्च जातियों से स्वतंत्र हो सकें। लेकिन 1947 में वे अपने इस विचार से पीछे हट गये।[17] स्पष्ट तौर पर आदिवासी क्षेत्रों में दलितों के लिए अलग से कोई प्रावधान नहीं किया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में भी यह प्रवृत्ति जारी रही।

II

स्वतंत्र भारत : संविधान, संसद के क़ानून और श्रेणियों की बहुलता

भारत के संविधान में 1935 के भारत शासन अधिनियम में मौजूद अनुसूचित जनजाति की संकल्पना को भारतीय संविधान में भी स्थान दिया गया। संविधान के अनुच्छेद-342 में यह प्रावधान किया गया है कि विभिन्न राज्यों में वहाँ के राज्यपालों से विचार-विमर्श करके किसी जनजाति को अनुसूचित जनजाति में सम्मिलित करने की अधिसूचना जारी की जा सकती है और केंद्र शासित प्रदेशों के संदर्भ में राज्यपाल ख़ुद ऐसी अधिसूचना जारी कर सकता है। फिर, संसद क़ानून बनाकर इस श्रेणी में किसी जनजाति को या किसी क्षेत्र में रहने वाले उसके हिस्से को जनजाति की श्रेणी में डाल सकती है, या बाहर निकाल सकती है।[18] अनुसूचित जनजाति की श्रेणी राज्य द्वारा उपलब्ध कराए जाने वाले कई लाभों को हासिल करने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि संविधान के अनुच्छेद-334 में इनकी

से दूषित होने का ख़तरा माना जाता है, उन्हें अस्पृश्य माना जाएगा. इन्हीं जातियों को 1936 में एक सरकारी अनुसूची में सूचीबद्ध किया गया. यहाँ यह भी ग़ौरतलब है कि 1936 की सूची बनने से पहले यह व्यवस्था थी कि मुस्लिम और ईसाई धर्मों के कुछ समूह भी 'डिप्रेस्ड क्लासेज' में सम्मिलित थे. लेकिन 1936 की सूची में अन्य धर्मों के जातियों/समुदायों को इस सूची से बाहर कर दिया गया. देखें, अश्विनी देशपाण्डे (2013) : 62-63.

[16] इस संदर्भ में ऐतिहासिक घटनाक्रम और वाद-विवाद की एक संक्षिप्त समझ के लिए देखें, अश्विनी देशपाण्डे (2013) : 43-53.

[17] देखें, सुखदेव थोराट (2018) : 272.

[18] भारत का संविधान (2008) : 187-88. असल में, अनुसूचित जनजातियों में किन समुदायों को सम्मिलित किया जाए, यह हमेशा ही एक विवादास्पद मसला बना रहा है और इसमें समय-समय पर नयी जनजातियों को सम्मिलित किया जाता रहा है. स्वतंत्र भारत में पहली बार 1951 में जनगणना हुई, जिसमें पूरे देश में 212 जनजातियों को अनुसूचित जनजातियों के रूप में मान्यता दी गयी. 1961 की जनगणना में अनुसूचित जनजातियों में सूचीबद्ध समूहों की संख्या बढ़कर 427 हो गयी और 1971 में यह संख्या 432 पाई गयी. अनुसूचित जनजातियों की बढ़ती संख्या से यह स्पष्ट है कि इस संदर्भ में किन्हीं वस्तुनिष्ठ कसौटियों का अनुपालन नहीं किया जाता.

जनसंख्या के अनुपात में लोकसभा और राज्य विधानसभा में तथा अनुच्छेद-335 में केंद्रीय और राज्य स्तरीय नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान किया गया है; (अनुसूचित जनजातियों के साथ-ही-साथ अनुसूचित जातियों या दलितों के लिए भी इस तरह की व्यवस्था की गयी है) अनुच्छेद-15(4) उच्चतर शैक्षणिक संस्थाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।[19] इसी तरह, संविधान के अनुच्छेद-275 में केंद्र सरकार को यह निर्देश दिया गया है कि राष्ट्रीय विकास की योजनाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के सुधार के लिए अलग से राशि आवंटित करे।[20] ग़ौरतलब है कि स्वतंत्र भारत में अनुसूचित जाति की श्रेणी में अस्पृश्यों को सम्मिलित करने के बारे में 1936 की कसौटियों को ही क़ायम रखा गया। राष्ट्रपति ने 1950 में शेड्यूल्ड कास्ट्स ऑर्डर जारी करके 1936 की सूची को फिर से जारी किया। लेकिन इस समय चार सिख जातियों को इस सूची में शामिल किया गया, और उन क्षेत्रों में सूची का विस्तार किया गया, जहाँ से पहले अनुसूचित जातियों की पहचान नहीं की गयी थी। ख़ास बात यह है कि 1936 की सूची की तरह ही अभी भी सिख धर्म की कुछ जातियों को छोड़कर किसी भी अन्य धर्म के जातियों या समूहों को इस श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया गया है। 1956 में इस सूची में संशोधन करके कई दलित सिख जातियों और 1990 में धर्मांतरित दलित बौद्धों को स्थान दिया गया।[21]

आम्बेडकर ने पहले 1943 में और फिर 1946 में ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के लिए पृथक् गाँव बनाने का प्रस्ताव किया। वे चाहते थे कि पूर्व-अछूतों के लिए बस्ती या गाँव ऊँची जाति की बस्तियों/गाँवों से दूर बसाये जाएँ जिनमें दलितों के पास जीविका का अपना स्वतंत्र साधन हो ताकि दलित भौगोलिक और आर्थिक रूप से उच्च जातियों से स्वतंत्र हो सकें। लेकिन 1947 में वे अपने इस विचार से पीछे हट गये। स्पष्ट तौर पर आदिवासी क्षेत्रों में दलितों के लिए अलग से कोई प्रावधान नहीं किया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के दौर में भी यह प्रवृत्ति जारी रही।

स्वतंत्रता पूर्व जिन क्षेत्रों को 'पूर्ण रूप से बहिष्कृत' और 'आंशिक रूप से बहिष्कृत' क्षेत्रों के रूप में जाना जाता था, उन्हें भारतीय संविधान में क्रमश: अनुसूची-VI और अनुसूची-V के रूप में शामिल किया गया। संविधान में पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों के लिए 'अनुसूचित क्षेत्र' और छठी अनुसूची के क्षेत्रों के लिए 'जनजातीय क्षेत्र' शब्द का प्रयोग किया। छठी अनुसूची के अंतर्गत भारत के उत्तर-पूर्वी भाग के क्षेत्रों को शामिल किया गया है। छठी अनुसूची के क्षेत्रों में स्वायत्त ज़िला परिषदों का प्रावधान किया गया है, जिन्हें स्थानीय स्तर पर, स्थानीय प्रथाओं के अनुसार, संसाधनों और सामाजिक जीवन के अन्य मामलों के प्रबंधन की स्वायत्तता प्रदान की गयी है। जिन राज्यों के क्षेत्रों को छठी अनुसूची में शामिल किया गया है, वहाँ के राज्यपालों को यह अधिकार है कि वे अधिसूचना जारी करके अपने राज्य में स्वायत्त ज़िला परिषदों की व्यवस्था का विस्तार कर सकते हैं, नया ज़िला बना सकते हैं या किसी स्वशासी ज़िले के क्षेत्र को घटा या बढ़ा सकते हैं।[22] छठी अनुसूची के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों में रहने वाले प्रभुत्वशाली जनजाति समूह को अपने संसाधनों की सुरक्षा और प्रबंधन करने और अपनी सामाजिक प्रथाओं के अनुसार जीवन संचालित करने का अधिकार

[19] इस तरह के अन्य प्रावधानों की जानकारी के लिए देखें, डी.डी. बसु (2007) : 388-96.

[20] भारत का संविधान (2008) : 148-149.

[21] सतीश देशपाण्डे एवं गीतिका बापना (2008) : 65.

[22] भारत का संविधान (2008) : 255-56; साथ ही देखें, एस. के. चौबे (1973).

मिला है। किंतु इसमें इन क्षेत्रों में रहने वाले अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों की सुरक्षा का कोई विशेष प्रबंध नहीं किया गया है। अमूमन इन क्षेत्रों में अल्पसंख्यक समूहों को, जिनमें दलित भी सम्मिलित हैं, बहुसंख्यक आदिवासी समूह के वर्चस्व का सामना करना पड़ता है।

पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में स्वायत्त ज़िला परिषदों का प्रावधान तो नहीं किया गया, किंतु इन क्षेत्रों में रहने वाले जनजातीय समुदायों के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ विशेष प्रावधान किये गये। मसलन, जिन राज्यों में ये क्षेत्र हैं, वहाँ के राज्यपालों को यह अधिकार है कि वे संसद और राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित ऐसे क़ानूनों को 'वीटो' कर सकते हैं, जिन्हें वे पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नहीं मानते हैं। इसी प्रकार, इन क्षेत्रों वाले राज्यों में अनुसूचित जनजातियों के हितों की सुरक्षा के लिए जनजातीय सलाहकार परिषद के गठन का भी प्रावधान है। संविधान में राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह संबंधित राज्यपाल से विचार-विमर्श करके किसी क्षेत्र को पाँचवीं अनुसूची में शामिल कर सकता है, उनकी सीमाओं में बदलाव कर सकता है, या उन्हें इस क्षेत्र से बाहर कर सकता है।[23] ग़ौरतलब है कि अनेक अध्ययनों से यह बात सामने आयी हैं कि पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों की लगातार उपेक्षा हुई है। भारत जन आंदोलन के नेता ब्रह्म देव शर्मा ने इसे 'वायदों को तोड़ने के अटूट इतिहास' की संज्ञा दी है।[24] हालाँकि कई ऐसे आदिवासी क्षेत्र हैं जो पाँचवीं अनुसूची का भाग नहीं हैं और इसके चलते वे कई संवैधनिक और सरकारी सुविधाओं से वंचित हैं। लेकिन छठी अनुसूची की तरह ही पाँचवीं अनुसूची में भी दलितों और अन्य अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए विशेष संवैधानिक प्रावधान नहीं किये गये। निश्चित रूप से, दलितों को संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार मिले हुए हैं, किंतु यह ख़तरा हमेशा रहता है कि पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों को लागू करने से वहाँ रहने वाले अन्य वंचित समूहों के हक़ की उपेक्षा हो सकती है। पेसा क़ानून के निर्माण और उसके लागू होने की प्रक्रिया ने इस डर को ज़्यादा मूर्त्त रूप में अभिव्यक्त किया है। इसके बारे में आलेख के अगले भाग में विस्तार से विवेचना की गयी है।

अनुसूचित जनजातियों की सामान्य श्रेणी के अतिरिक्त ऐसी कई अन्य श्रेणियाँ हैं जो आदिवासियों के जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। डि-नोटिफ़ाइड ट्राइब्स ऐसी ही एक श्रेणी है। औपनिवेशिक दौर में *क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट* पर पुनर्विचार करने के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऑल इंडिया क्रिमिनल ट्राइब्स इंक्वायरी कमेटी (1949) का गठन किया गया। इसकी अनुशंसा के आधार पर *क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट* को क़ानून की किताब से निकाल दिया गया। इसके बाद इसमें सम्मिलित समुदायों को डि-नोटिफ़ाइड ट्राइब्स के रूप में जाना गया। हालाँकि क़ानूनी रूप से इन समुदायों की 'अपराधी' हैसियत को ख़त्म कर दिया गया, किंतु अभी भी सामाजिक रूप से इन्हें ऐसे समूहों के रूप में ही पहचाना जाता है, जिनके पूर्वज अपराधी थे। इसके चलते सामाजिक जीवन में इन्हें अत्यधिक भेदभाव का सामना करना पड़ता है।[25]

इसके अलावा, जनजातियों के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण श्रेणी विशेष रूप से कमज़ोर जनजातीय समूहों (पीवीटीजी) की है (2006 तक इन्हें आदिम जनजाति समूह के रूप में जाना जाता था, उसके बाद वर्तमान नाम का प्रयोग किया जाने लगा)। इसमें अभी कुल 75 जनजातीय समूह सम्मिलित हैं। ये वे समूह हैं जो जनजातीय समूहों में भी अत्यंत पिछड़ी स्थिति में हैं। इनमें से 19 समूह ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या एक हज़ार से भी कम है। श्रेणियों की पेचीदा स्थिति का सबसे बड़ा उदाहरण यह

---

[23] भारत का संविधान (2008) : 255-56 : 254.

[24] देखें बी.डी. शर्मा (2010); चूँकि इस शोध-आलेख का मक़सद विविध श्रेणियों की विवेचना करना है, इसलिए मैंने यहाँ इन संवैधानिक प्रावधानों के निरंतर उल्लंघन की विस्तृत विवेचना नहीं की है.

[25] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2014) : 58.

है कि कुछ पीवीटीजी अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का हिस्सा नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, केरल, कर्णाटक, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल जैसे राज्यों में पीवीटीजी तो हैं किंतु यहाँ अनुसूचित क्षेत्र (पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्र) नहीं है जिससे ये क्षेत्र पेसा से वंचित हैं, जो स्थानीय आदिवासी समुदाय की संस्कृति की स्वायत्तता और संसाधनों पर अधिकार सुनिश्चित करने के लिए सशक्त प्रावधान करता है।[26]

भारतीय संविधान ने वन अधिनियम 1927 की वैधता को क़ायम रखा, जो राज्य को नये वनों के निर्माण और वनों के प्रबंधन को पूरी शक्ति देता है। इसके अलावा, सरकार ने वन्य जीवों की सुरक्षा हेतु 1972 में *वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम* बनाया गया। इसमें राज्य सरकारों का संरक्षित स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। अर्थात् वे इस क़ानून के प्रावधानों के अनुरूप किसी क्षेत्र को नैशनल पार्क या अभयारण्य घोषित कर सकते हैं। केंद्र सरकार भी राज्य सरकारों या केंद्र शासित प्रदेशों की सहमति से ऐसा कर सकती है। इस अधिनियम के अंतर्गत अभयारण्य के अंतर्गत लोगों को निजी सम्पत्ति और चराई का अधिकार दिया गया है, हालाँकि वन्य जीव संरक्षण के लिए इस पर पाबंदी भी लगाई जा सकती है। किंतु नैशनल पार्क के भीतर वन निवासी समुदायों के अधिकारों को अत्यंत सीमित किया गया है और वन विभाग को कई दण्डात्मक अधिकार भी प्रदान किये गये हैं। मसलन, इन क्षेत्रों में जंगल की अवैध कटाई या वन्य जीवों के शिकार की स्थिति में वन विभाग संबंधित आरोपियों पर केस दर्ज कर सकता है। साथ ही, नैशनल पार्कों को मानव-रहित क्षेत्र बनाने का लक्ष्य रखा गया अर्थात् यह फ़ैसला किया गया कि इन क्षेत्रों में बसे गाँवों को पार्क के बाहर अन्य स्थानों पर बसाया जाएगा। स्पष्टत: इस अधिनियम के चलते नैशनल पार्क एक ऐसी श्रेणी के रूप में सामने आया, जिसमें वन-निवासी समुदायों (जिसमें आदिवासियों का बहुमत है, लेकिन और-आदिवासी समूह, विशेषकर दलित भी सम्मिलित हैं) के अधिकार सीमित कर दिये गये।[27] निश्चित रूप से, इससे अनुसूचित जनजातियों के साथ ही सभी वन निवासी समूहों की स्थिति दुर्बल हुई जिनमें दलित प्रमुख हैं। सभी समूह पूरी तरह से वन विभाग (नैशनल पार्क के प्रशासन) की मनमर्ज़ी पर निर्भर हो गये। इस क़ानून के बनने के बाद नैशनल पार्क और अभयारण्य की संख्या में काफ़ी बढ़ोतरी हुई। 1970 में देश में सात नैशनल पार्क और 130 अभयारण्य थे। अप्रैल 2012 में देश में नैशनल पार्कों की संख्या बढ़कर 102 और अभयारण्यों की संख्या बढ़कर 515 हो गयी।[28]

इसके अतिरिक्त, सत्तर के दशक में वनों के प्रबंधन में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी, जिसके कारण 1976 में वनों को संविधान की राज्य सूची से हटाकर संघ सूची में डाल दिया गया। इसी प्रकार, संसद ने 1980 में *वन (संरक्षण) अधिनियम* पारित किया, जिसमें यह प्रावधान है कि देश के भू-क्षेत्र का 22 प्रतिशत वन क्षेत्र के रूप में क़ायम रखा जाएगा। इसने किसी आरक्षित वन को अनारक्षित करने के लिए या जंगल की किसी ज़मीन का ग़ैर-वनीय मक़सद के लिए प्रयोग करने से पहले केंद्र सरकार की अनुमति को आवश्यक बना दिया। इन सभी नवीन प्रावधानों का नतीजा यह निकला कि वन विभाग का जंगल के प्रबंधन में वर्चस्व न सिर्फ़ औपनिवेशिक दौर की तरह ही क़ायम रहा बल्कि संरक्षित क्षेत्रों में इसमें बढ़ोतरी भी हुई। यह भी ग़ौरतलब है कि 'राष्ट्रीय विकास' के नाम पर होने वाले दोहन के चलते न सिर्फ़ वनों की स्थिति ख़राब हुई, बल्कि वनों में बसे या इसके संसाधनों पर निर्भर आदिवासी समुदायों के साथ ही साथ दलितों को 'अतिक्रमक' घोषित करने की परिघटना में

---

[26] वही : 60.

[27] भारत में वन्य जीव संरक्षण और संरक्षित क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के अधिकारों संबंधित वाद-विवाद के लिए देखें, नीमा पाठक ब्रूम, शीबा देसोर, आशीष कोठारी और अरशिया बोस (2014).

[28] कमल नयन चौबे (2015क) : 92-93.

तेज़ी से बढ़ोतरी भी हुई। 1980 के पहले अक्सर समय-समय पर राज्य सरकारें इन 'अतिक्रमणों' का नियमितीकरण करती थीं किंतु *वन (संरक्षण) अधिनियम* पारित हो जाने के बाद इस प्रक्रिया में भी रुकावट आ गयी।[29]

हालाँकि इन सबके साथ 1970 के दशक से देश में पर्यावरणीय आंदोलनों की शुरुआत हुई, जिसमें संसाधनों के दोहन और उनके केंद्रीकृत प्रबंधन का विरोध किया गया। इन्हीं आंदोलनों से ठोस रूप से जंगल संसाधनों के प्रबंधन में आदिवासियों को अधिकार देने और उनकी 'अतिक्रमक' की हैसियत ख़त्म करने की माँग सामने आयी, और इसके पक्ष में आदिवासी संगठनों ने स्थानीय स्तर पर आदिवासियों और अन्य वन निवासियों को गोलबंद करने का प्रयास किया। इन्हीं प्रयासों की बदौलत पेसा और वन अधिकार क़ानून जैसे नये क़ानून सामने आयें, जिन्होंने कई नवीन श्रेणियों का सृजन किया।

III

पाँचवीं अनुसूची, पेसा और दलितों का हाशियाकरण

संविधान की पाँचवीं अनुसूची का मुख्य मक़सद उत्तर-पूर्व के राज्यों के अलावा देश के अन्य भागों में आदिवासी क्षेत्रों के लिए विशेष प्रावधान करना था। वर्तमान में इस अनुसूची में देश के दस राज्यों के विविध ज़िले सम्मिलित हैं। ये दस राज्य हैं- छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, झारखण्ड, राजस्थान, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात और हिमाचल प्रदेश।[30] पिछले भाग में यह उल्लेख किया गया है कि पाँचवीं अनुसूची के प्रावधानों को सही तरीक़े से लागू नहीं किया गया। लेकिन बाद में पेसा क़ानून बनने के बाद इन क्षेत्रों में आदिवासियों के अधिकारों को मज़बूती देने का एक नया और ज़्यादा कारगर साधन सामने आया। संविधान के 73वें और 74वें संशोधन द्वारा देश में पंचायती और शहरी नगरपालिका को संवैधनिक मान्यता प्रदान की गयी। इन्हीं संविधान संशोधनों में यह उल्लेख किया गया था कि इन प्रावधानों को पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में लागू करने के लिए अलग से क़ानून बनाए जाएँगे। हालाँकि सरकार ने स्वेच्छा से यह काम नहीं किया, किंतु भारत जन आंदोलन और आदिवासी क्षेत्रों में ज़मीनी स्तर पर कार्य करने वाले अन्य संगठनों के लगातार प्रयासों के चलते दिसम्बर 1996 में संसद द्वारा पेसा क़ानून पारित किया गया।[31]

1980 के दशक से आदिवासी क्षेत्रों में विकेंद्रीकृत व्यवस्था स्थापित करने और आदिवासियों को अपने जीवन तथा संसाधनों के प्रबंधन जैसी माँगें भी इस क़ानून द्वारा अभिव्यक्त हुईं। इस क़ानून के समर्थकों द्वारा यह दावा किया जाता रहा है कि पेसा पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों के लिए 'गाँव गणराज्य' की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, और इसे 'बीसवीं सदी के सबसे रैडिकल क़ानून' तथा 'ग्रामीण भारत के मैग्नाकार्टा' की संज्ञा दी गयी।[32] पेसा ने पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में एक स्वायत्तशासी और सशक्त ग्राम सभा की रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह आदिवासियों के सामुदायिक जीवन की बुनियादी इकाई के रूप में ग्राम सभा की परिकल्पना करता है, इसमें गाँव को परिभाषित करते हुए यह कहा गया कि यह 'साधारणतया आवास या आवासों के समूह अथवा छोटे गाँवों (बस्ती) या गाँवों के समूह से मिलकर बनेगा, जिसमें समुदाय समाविष्ट हों, और जो परम्पराओं और रूढ़ियों के अनुसार

---

[29] वही : 99.

[30] देखें, मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स (गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया) (2020) वेब पता : https://tribal.nic.in/declarationof5thSchedule.aspx#:~:text=At%20present%2C%20Scheduled%20Areas%20have,%2C%20Maharashtra%2C%20Odisha%20and%20Rajasthan.

[31] कमल नयन चौबे (2013); (2014); (2015ग).

[32] बी.डी. शर्मा (2010) : 68-69.

अपनी कार्यप्रणाली का प्रबंध करता हो; और सभी वयस्क सदस्य ग्राम सभा के सदस्य होंगे।'[33] यह राज्य सरकार को निर्देश देता है कि अनुसूचित क्षेत्रों (पाँचवीं अनुसूची) के क्षेत्रों के लिए पंचायत अधिनियम वहाँ के प्रथागत नियमों, सामाजिक-धार्मिक व्यवहारों और संसाधनों के पारम्परिक प्रबंधन के व्यवहारों के अनुरूप होंगे।[34] पेसा में ग्राम सभा को काफ़ी विस्तृत अधिकार दिया गया है : यह परम्पराओं, प्रथाओं, सांस्कृतिक पहचान और सामुदायिक संसाधनों का संरक्षण करने और परम्परागत तरीक़े से विवादों को सुलझाने में सक्षम है।[35] ग्रामीण स्तर पर पंचायत द्वारा बहुत से सामाजिक और आर्थिक विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए इसकी सहमति आवश्यक है, और इसे ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम के लिए व्यक्तियों को पहचानने और उनका चयन करने का अधिकार है।[36] इसके अनुसार, भू-अधिग्रहण से पहले ग्राम सभा या पंचायत के समुचित स्तर से विचार-विमर्श किया जाएगा; खनिज पदार्थों के खनन के लिए इसकी पूर्व अनुशंसा आवश्यक होगी और इसे अनुसूचित क्षेत्रों में भूमि अलगाव को रोकने और अनुसूचित जनजातियों से ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से लिए गये भूमि को वापस लेने का अधिकार होगा; ग्राम सभा या समुचित स्तर पर पंचायत का लघु वनोपजों पर स्वामित्व होगा; इसे नशीली वस्तुओं के ख़रीद-बिक्री को प्रतिबंधित या नियंत्रित करने का अधिकार है; अपने क्षेत्र के भीतर पैसे की लेन-देन पर और सभी सामाजिक क्षेत्रों की संस्थाओं पर इसका नियंत्रण होगा।[37] पेसा के अनुसार, संविधान में उल्लिखित सभी समूहों को पंचायत के स्तर पर उनकी जनसंख्या अनुपात के अनुसार आरक्षण देने का प्रावधान है। लेकिन इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण कुल सीटों में एक-तिहाई से कम नहीं होगा और मुखिया/सरपंच के सभी पद अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित होंगे।[38]

पेसा के बारे में यह बात याद रखने की आवश्यकता है कि आम तौर पर इस क़ानून को सही तरीक़े से लागू नहीं किया गया है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह रहा है कि यह क़ानून स्थानीय समुदायों को कुछ ठोस अधिकार देता है, जो 'विकास' के लिए वन संसाधनों के दोहन में बाधक साबित हो सकते हैं।[39] बहरहाल, कई राज्यों ने पेसा क़ानून में ग्राम सभा शक्तियों को काफ़ी कमज़ोर किया। कई राज्यों में लम्बे समय तक पेसा के राज्य स्तरीय क़ानून या नियमों का निर्माण नहीं किया गया, मसलन, राजस्थान में ऐसा हुआ। बहरहाल, कई अध्ययनों में यह बात सामने आयी है कि बहुत से स्थानों पर आदिवासियों ने पेसा के आधार पर अपने अधिकारों की दावेदारी की है। कई स्थानों पर जहाँ इसे सही तरह से लागू नहीं किया गया, वहाँ भी लोगों ने 'शिलालेख' स्थापित करके अपने 'गाँव गणराज्य' की स्थापना की उद्घोषणा की।[40]

स्थिति यह है कि पेसा के प्रावधान पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातियों की स्थिति काफ़ी मज़बूत करते हैं। लेकिन इस क़ानून के प्रावधान कई स्तरों पर दलितों और अन्य ग़ैर-अनुसूचित जातियों के अधिकारों की अवहेलना करते हैं।

---

[33] सेक्शन 4 (बी) (सी), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1996).
[34] सेक्शन 4 (ए) : वही.
[35] सेक्शन 4 (डी) : वही.
[36] सेक्शन 4 (ई) : वही.
[37] सेक्शन 4 (आई) (जे), (के), (एल), (एम) : वही.
[38] सेक्शन 4 (जी) : वही
[39] इस संदर्भ में विश्लेषण के लिए देखें, बी.डी. शर्मा (2010); नंदिनी सुंदर (2011); सरकार द्वारा गठित कई समितियों ने भी यह रेखांकित किया कि पाँचवीं अनुसूची में आने वाले विभिन्न राज्यों में माओवादी आंदोलन के विस्तार का एक प्रमुख कारण यह भी है कि यहाँ पेसा जैसे प्रगतिशील क़ानूनों को सही तरीक़े से लागू नहीं किया गया है. देखें, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2008).
[40] पेसा के लागू होने की स्थिति के विश्लेषण और अनुसूचित क्षेत्रों में शिलालेखों की स्थापना के बारे में जानकारी के लिए देखें, कमल नयन चौबे (2015ख); (2015ग).

पहला, सम्भवत: यह क़ानून इस मान्यता पर आधारित है कि पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में सिर्फ़ अनुसूचित जनजातियों के हितों की हिफ़ाज़त हो जाने पर अन्य समूहों के हितों की अपने-आप सुरक्षा हो जाएगी। यह अपने-आप में ग़लत धारणा है। पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत आने वाले बहुत से गाँवों में अल्पसंख्यक समूह के रूप में ग़ैर-आदिवासी समूह भी हैं, जिनमें दलित सबसे प्रमुख हैं। मिसाल के तौर पर, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड में दलितों (अनुसूचित जातियों) का जनसंख्यात्मक अनुपात इतना नहीं है कि ये राज्य की राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन कर सकें। 2011 की जनगणना के अनुसार, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ में दलित राज्य की कुल जनसंख्या का क्रमश: 10.5 और 12.8 प्रतिशत हैं।[41] स्थानीय स्तर पर पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में भी अमूमन ये अल्पसंख्या में हैं। मसलन, झारखण्ड के पाँचवीं अनुसूची में सम्मिलित ज़िले खूँटी में अनुसूचित जातियों का अनुपात 4.5 है, वहीं अनुसूचित जनजातियों का अनुपात 73.3 प्रतिशत है।[42] इसी तरह, छत्तीसगढ़ में माओवादी आंदोलन का गढ़ माने जाने वाले दँतेवाड़ा ज़िले में, अनुसूचित जाति (दलितों) का कुल जनसंख्या में अनुपात 2.4 प्रतिशत है, वहीं अनुसूचित जनजातियों का अनुपात 76.9 प्रतिशत है।[43] निश्चित रूप से, यहाँ दलित अल्पसंख्या में हैं। आदिवासियों की तरह ही ये समूह (विशेष रूप से दलित) आर्थिक और सामाजिक रूप से अत्यंत पिछड़े हैं। ऐसे में आदिवासियों को अत्यधिक अधिकार देने वाला पेसा जैसा क़ानून ग़ैर-आदिवासी समूहों के हितों की अवहेलना करता है। यह दलितों को पूरी तरह से आदिवासी बहुसंख्यक समूह पर निर्भर बना देता है क्योंकि अधिकांश मामलों में दलितों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति आदिवासियों की तरह ही है, या उनसे भी ख़राब है।

दूसरा, ग्राम सभा की स्वायत्तता अपने-आप में आकर्षक अवधारणा है। इसका बुनियादी अर्थ यह है कि ग्राम सभाएँ अपने-आप में इतनी समर्थ हैं कि वे अपनी परम्पराओं और प्रथाओं के अनुरूप विभिन्न मसलों पर निर्णय कर सकें। किंतु पेसा में गाँवों की परिकल्पना समरूप समुदायों के रूप में की गयी है। इस संदर्भ में नंदिनी सुंदर ने यह विचार व्यक्त किया है कि पेसा में एक ऐसे आदिवासी समाज की अवधारणा निहित है, जो बुनियादी रूप से स्थिर या जड़ है। यह एक ऐसे समाज की अवधारणा है जो उपनिवेशवाद और पूँजीवाद से अछूता रहा है, और इसमें गाँव या बस्ती के स्तर पर मजबूत सामुदायिक जुड़ाव की भावना मौजूद है।[44] स्पष्टत: आदिवासी गाँवों में ख़ुद आदिवासी समुदाय के भीतर काफ़ी भिन्नताएँ पाई जाती हैं। लेकिन अगर हम दलितों की बात करें तो अधिकांश मामलों में आदिवासी गाँवों में रहने वाले दलित परिवार सांस्कृतिक रूप से आदिवासी समूहों से अलग होते हैं। इससे इनके सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा होती है और इन पर बहुमत के सांस्कृतिक मूल्य थोपे जाते हैं। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि ऐसे गाँवों में रहने वाले दलित आदिवासी परम्पराओं और सांस्कृतिक रूपकों को अपनाने के दबाव का सामना करते हैं।[45] अर्थात् वे अपने सांस्कृतिक रूपों या त्यौहारों से ज़्यादा आदिवासी संस्कृति या त्यौहारों को अपना मानने के दबाव का सामना करते हैं। असल में, हर समाज में अल्पसंख्यक समूह ऐसे दबाव का सामना करता है। पेसा में अल्पसंख्यक समूहों— जिसमें दलित भी सम्मिलित हैं, की

[41] देखें, ऑफ़िस ऑफ़ रजिस्ट्रार जनरल ऐंड सेंसस कमिश्नर इंडिया, वेब पता : https://censusindia.gov.in/census_and_you/scheduled_castes_and_sceduled_tribes.aspx

[42] सेंसस ऑफ़ इंडिया 2011 : झारखण्ड (2011).

[43] सेंसस ऑफ़ इंडिया 2011 : छत्तीसगढ़ (2011) : 12.

[44] नंदिनी सुंदर (2009) : 201.

[45] बहरहाल, इस संदर्भ में यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि ख़ुद आदिवासी भी बाहरी दबावों का सामना कर रहे हैं. उन पर यह दबाव अलग-अलग संगठनों (ईसाई मिशनरी, या वनवासी कल्याण आश्रम आदि) या खनन और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर आधारित 'विकास' कार्यक्रमों के माध्यम से आता है. इन पहलुओं की समझ के लिए देखें, नंदिनी सुंदर, सव्यसाची, नरेंद्र बस्तर, अभय खाखा, कमल नयन चौबे (2018).

परम्पराओं के संरक्षण की व्यवस्था नहीं की गयी है। इसलिए ग्राम सभा में इनके विचारों की उपेक्षा का ख़तरा रहता है।

तीसरा, ग्राम सभा को सरकारी योजनाओं के लाभार्थियों का चयन करने, स्कूल आदि का संचालन करने वनोपजों के प्रबंधन का फ़ैसला करने आदि का अधिकार है, जो गाँव के भीतर के अल्पसंख्यक दलित समूह के आर्थिक अधिकारों के लिए ख़तरनाक है क्योंकि टकराव की स्थिति होने पर आदिवासी बहुमत हमेशा ही दलितों को सरकारी योजनाओं या वनोपजों के उपयोग से वंचित कर सकता है। ग्राम सभा के इस तरह के फ़ैसलों के नियंत्रण के लिए पेसा जैसे क़ानून में कोई प्रावधान नहीं किया गया है। कई बार बहुमत का ज़ोर दलितों के हाशियाकरण का कारण बन जाता है। मसलन, छत्तीसगढ़ के सूरजपुर ज़िले में अपने फ़ील्ड-वर्क के दौरान मैंने यह पाया कि कई गाँवों में दलित परिवार अमूमन ग्राम सभा की बैठकों में हिस्सा नहीं लेते थे। उनका घर गाँव में एक कोने पर बना हुआ था और वे गाँव के सामाजिक जीवन में भी बहिष्करण का शिकार थे। यह एक तरह से उनके हाशियाकरण का ही प्रमाण था।

चौथा, यह समझ भी सही नहीं है कि आदिवासी परम्पराओं में सब कुछ ऐसा है जिसे पूरे समुदाय के लिए आदर्श माना जा सके। कई बार सामुदायिक प्रथाएँ और निर्णय आदिवासी समुदायों के व्यक्तियों के हितों की अवहेलना करती हैं। दलितों के संदर्भ में भी यही स्थिति आती है। स्पष्टत: मौजूदा व्यवस्था समुदाय के सामने व्यक्ति के हितों और आकांक्षाओं के संरक्षण के लिए पर्याप्त प्रावधान नहीं करती हैं।

पाँचवाँ, पेसा में यह प्रावधान है कि पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में हमेशा ही अनुसूचित जनजाति से संबंधित व्यक्ति ही सरपंच या मुखिया होगा। यह राजनीतिक रूप से दलितों के हाशियाकरण को बढ़ाता है क्योंकि देश के अन्य क्षेत्रों में जनसंख्या के हिसाब से आरक्षण के कारण जहाँ स्थानीय स्तर पर दलितों को प्रतिनिधित्व मिल पाता है, वहीं पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों में ऐसा होना मुश्किल है। पेसा मुखिया/सरपंच के पद को आदिवासियों के लिए आरक्षित करके पाँचवीं अनुसूची में दलितों को हमेशा के लिए आदिवासियों के राजनीतिक नेतृत्व के अधीन रहने का प्रावधान कर देता है। शायद ज़्यादा बेहतर यह होता है कि हर पंचायत में सरपंच/मुखिया के पद को आदिवासियों के लिए आरक्षित करने के बजाय कुछ स्थानों पर इन पदों को दलितों के लिए भी आरक्षित किया जाता, या पंचायत स्तर इनके व्यक्तिगत/सामूहिक सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए ठोस प्रबंध किया जाता।

> क़ानून का प्रारूप तैयार करने वाले लोगों के मन में यह सोच बैठी हुई थी कि वन क्षेत्रों में मुख्य रूप से आदिवासी ही रहते हैं, और सिर्फ़ उनके अधिकारों को मान्यता देकर इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के साथ न्याय किया जा सकता है। और किसी ग़ैर-आदिवासी की माँग को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह कई पीढ़ियों और सात दशकों से एक ही स्थान पर रह रहा हो। इस तरह की सोच में दो तरह की समस्याएँ हैं : पहला, ख़ुद को आदिवासी मानने वाले सभी समुदाय अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का भाग नहीं हैं; और दूसरा, वन क्षेत्रों में बड़े स्तर पर अन्य समूह, विशेषकर दलित भी रहते हैं, जो वन संसाधनों पर निर्भर हैं।

मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि पेसा ने पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्रों के लिए कुछ सशक्त प्रावधान किये हैं। लेकिन इन प्रावधानों के केंद्र में विशेष रूप से आदिवासी ही हैं। पेसा के लागू होने का अनुभव बहुत ही ख़राब रहा है। इसके ज़्यादा रैडिकल प्रावधानों की अमूमन उपेक्षा की गयी है। लेकिन इस क़ानून की सबसे बड़ी ख़ामी यह है कि यह दलितों और अन्य वंचित समूहों के हितों को

पूरी तरह से आदिवासियों या ग्राम सभा के बहुसंख्यक समुदाय के हितों से मिला देता है, जो दरअसल अधिकांश मामलों में दलित समुदायों के बहिष्करण का कारण बनता है। इससे भी ज़्यादा अचरज की बात यह है कि अमूमन पेसा से संबंधित सरकारी समितियों के अध्ययनों में इस पहलू की चर्चा नहीं की गयी है।[46]

IV

वन अधिकार क़ानून : आदिवासियों की सशक्तीकरण और दलितों निर्बलीकरण की समानांतर प्रक्रिया

वन अधिकार क़ानून ने भी कई ऐसी श्रेणियों का निर्माण किया है जिनके कारण वन क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों (अनुसूचित जनजातियों) की तुलना में दलितों की स्थिति कमज़ोर हुई है। इस क़ानून में अनुसूचित जनजातियों और अन्य पारम्परिक वन निवासियों के लिए व्यक्तिगत वन अधिकारों और सामूहिक वन अधिकार देने का प्रावधान किया गया है। व्यक्तिगत अधिकारों के संदर्भ में इसमें हर न्यूक्लियर परिवार को अधिकतम चार हेक्टेयर भूमि पर मालिकाना हक़ देने और ज़मीन का 'मालिकाना पत्र' या पट्टा पति और पत्नी दोनों के नाम देने और अकेली महिलाओं को भी यह अधिकार देने का प्रावधान किया गया।[47] सामूहिक अधिकारों के संदर्भ में मुख्य रूप से जंगल से वनोपज लेने और जंगल की सुरक्षा का अधिकार दिया गया, जिसका अर्थ है कि नज़दीकी गाँवों के लोगों से विचार किये बग़ैर किसी वन भूमि का ग़ैर-वनीय उद्देश्यों के लिए प्रयोग नहीं किया जाएगा।[48] इसमें वन गाँवों और टांगिया गाँवों के अधिकारों को मान्यता देने की बात कही गयी। असल में, टांगिया गाँवों को वन गाँवों का एक रूप माना गया है।[49] इसमें आदिम जनजातियों समूहों को 'हैबिटेट' का अधिकार दिया गया। इसके अलावा, इसमें संरक्षित क्षेत्रों- राष्ट्रीय पार्क, अभयारण्य और टाइगर रिजर्व में भी वन अधिकारों को मान्यता देने का प्रावधान किया गया। इस क़ानून के अनुसार, यदि इन क्षेत्रों में किसी भाग को वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक माना जाता है तो वहाँ विशेषज्ञों, नागरिक समाज और स्थानीय समुदायों के प्रतिनिधियों को मिलकर बनी समिति 'क्रिटिकल वाइल्ड लाइफ़ हैबिटेट' बनाने का फ़ैसला कर सकती है। ऐसा होने पर इन क्षेत्रों में रहने वाले वननिवासी समूहों को उचित विकल्प देकर कहीं और बसाया जा सकता है।[50]

बहरहाल, इस क़ानून में सम्मिलित 'अन्य पारम्परिक वन निवासी' (अदर ट्रेडिशनल फ़ॉरेस्ट ड्वेलर्स— ओटीएफ़डी) की श्रेणी ने जंगल की ज़मीन पर बसे या इस पर निर्भर दलितों और अन्य ग़ैर-अनुसूचित जाति समूहों की स्थिति अत्यंत कमज़ोर कर दी। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि इस श्रेणी का क्या अर्थ है। दिसम्बर, 2005 में जब इस क़ानून का पहला प्रारूप संसद में प्रस्तुत किया गया तो यह सिर्फ़ अनुसूचित जनजातियों से ही संबंधित था। इसमें ग़ैर-अनुसूचित जनजातियों के बारे में कोई उल्लेख नहीं था। बाद में, क़ानून के लिए संघर्षरत आदिवासी संगठनों की तरफ़ से यह माँग जोड़ी गयी कि इसमें जंगल पर निर्भर उन समूहों को भी शामिल किया जाना चाहिए, जो अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का भाग नहीं है। ऐसे समूहों में मुख्य रूप से दलित और पिछड़ी जातियाँ सम्मिलित थीं, जो जंगल में या उसके आस-पास के क्षेत्रों में रहती थीं और अपनी जीविका के लिए वन भूमि या वन संसाधनों पर निर्भर थीं। जब यह विधेयक दिसम्बर, 2005 में प्रस्तुत हुआ तो इस पर विचार

[46] मिसाल के तौर पर देखें, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2006); (2010क) (2014).
[47] सेक्शन 4 (4) (6) गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007).
[48] सेक्शन 3 (1), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007).
[49] देखें, सेक्शन 2 (एफ़), 3(एच) गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007).
[50] सेक्शन 2(बी), 3(बी), (सी), (डी), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007).

करने के लिए एक संयुक्त संसदीय समिति का गठन किया गया। वन अधिकार क़ानून के लिए संघर्ष कर रहे संगठनों की माँग पर इस समिति ने विधेयक में 'अन्य पारम्परिक वन निवासी' की श्रेणी सम्मिलित की। इन श्रेणी में उन परिवारों को सम्मिलित किया गया, जो किसी वन भूमि पर तीन पीढ़ियों से रह रहे हों। हालाँकि जब क़ानून संसद से पारित हुआ, तो उसमें इस धारा को ज़्यादा सख़्त बनाते हुए तीन पीढ़ियों के साथ-ही-साथ 75 वर्ष से एक ही स्थान पर रहने की कसौटी भी जोड़ दी गयी।[51] स्पष्टत: क़ानून के प्रारम्भिक मसौदे की तुलना में यह एक प्रगतिशील बदलाव था, किंतु इसने दलितों और अन्य ग़ैर-अनुसूचित जनजाति वन-निवासी समुदायों के लिए स्थिति जटिल ही बनायी। असल में, बहुत से वन्य-जीव संरक्षणवादियों ने यह तर्क दिया कि विभिन्न ग़ैर-आदिवासी समूहों ने ग़लत तरीक़े से जंगल की ज़मीन पर क़ब्ज़ा किया है, और यदि इन सभी की माँगों को स्वीकार कर लिया गया तो इससे जंगल (विशेष रूप से संरक्षित क्षेत्र) बर्बाद हो जाएँगे। इन आलोचकों के दबाव में ही ओटीएफ़डी को अधिकार देने के लिए इतना सख़्त प्रावधान किया गया। यह उम्मीद की गयी कि इससे बहुत से ग़ैर-आदिवासी समूहों के ग़लत दावों को नकारने में आसानी होगी। असल में, इस प्रावधान का अर्थ यह है कि यदि इस श्रेणी में आने वाले परिवार 75 सालों तक ही एक स्थान पर रहने का प्रमाण नहीं दे पाएँगे, तो न सिर्फ़ वे इस क़ानून के लाभ से वंचित हो जाएँगे, बल्कि फिर वन विभाग उन्हें उनके घर तथा ज़मीन से बेदख़ल कर सकता है। इससे यह बात भी स्पष्ट है कि इस क़ानून का प्रारूप तैयार करने वाले लोगों के मन में यह सोच बैठी हुई थी कि वन क्षेत्रों में मुख्य रूप से आदिवासी ही रहते हैं, और सिर्फ़ उनके अधिकारों को मान्यता देकर इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के साथ न्याय किया जा सकता है। और किसी ग़ैर-आदिवासी की माँग को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह कई पीढ़ियों और सात दशकों से भी ज़्यादा समय से एक ही स्थान पर रह रहा हो। इस तरह की सोच में दो तरह की समस्याएँ हैं : पहला, ख़ुद को आदिवासी मानने वाले सभी समुदाय अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का भाग नहीं हैं;[52] और दूसरा, वन क्षेत्रों में बड़े स्तर पर अन्य समूह, विशेषकर दलित भी रहते हैं, जो वन संसाधनों पर निर्भर हैं।

वन अधिकार क़ानून के लागू होने की प्रक्रिया के अध्ययन से संबंधित कई रपटों में यह बात स्पष्ट की गयी कि ओटीएफ़डी श्रेणी को निजी वन अधिकार नहीं मिल रहे हैं अर्थात् जंगल की ज़मीन पर लम्बे समय से रहने के कारण उनके द्वारा ज़मीन पर पट्टा हासिल करने के लिए दी जाने वाली अर्ज़ियों को अमूमन ख़ारिज कर दिया गया। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि श्रेणी में आने वाले ग़ैर-आदिवासी परिवार यह साबित करने में नाकाम रहें कि वे उस स्थान पर तीन पीढ़ियों और 75 वर्षों से रह रहे हैं।[53] टांगिया गाँवों की श्रेणी और वन अधिकार क़ानून के संदर्भ में इसकी स्थिति के अध्ययन से वन क्षेत्रों में दलितों की वंचना की स्थिति को ज़्यादा बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है।

भारत के वन क्षेत्रों में 'टांगिया गाँव' एक ऐसी श्रेणी है, जिसमें मुख्य रूप से दलित निवास करते हैं। औपनिवेशिक दौर में अंग्रेज़ों ने अपने व्यावसायिक लाभ को बढ़ाने के लिए 'टांगिया' गाँवों की

---

[51] सेक्शन 2 (ओ), गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2007); वन अधिकार क़ानून 2006 के बनने से संबंधित वाद-विवाद की समझ के लिए देखें, कमल नयन चौबे (2014); (2015क) : 116-180.

[52] छत्तीसगढ़ के सूरजपुर ज़िले में अपने फ़ील्ड वर्क के दौरान मैंने पाया कि कई समूह ख़ुद को आदिवासी बताते थे, लेकिन असल में वे अनुसूजित जाति या पिछड़े वर्ग के सदस्य थे. ऐसे समूह ख़ुद ही अपनी संवैधानिक-क़ानूनी स्थिति से अनभिज्ञ थे. यह भी श्रेणीकरण की एक बड़ी ख़ामी को दर्शाता है.

[53] गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (2010ख); (2014).

प्रणाली का इस्तेमाल किया। यह प्रणाली बर्मा के सफल अनुभवों के बाद भारत में आयी थी।[54] टांगिया एक बर्मी शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है पहाड़ी पर पेड़ लगाना, लेकिन भारतीय संदर्भ में यह क्यारियों के बीच पेड़ लगाने के व्यवहार के रूप में स्थापित हुआ। मुख्य रूप से इसका उपयोग बंजर हो रहे वन क्षेत्रों में पेड़ लगाने के लिए किया जा रहा था। भारत में रेलवे और अंग्रेज़ों के अन्य साम्राज्यवादी हितों के कारण कई स्थानों पर वन क्षेत्रों को काफ़ी गहरा नुक़सान हुआ। अंग्रेज़ वन प्रशासक यह चाहते थे कि इन क्षेत्रों में व्यावसायिक रूप से लाभप्रद पेड़ लगाए जाएँ। इसके लिए इन्होंने ऐसे लोगों का समूह एकत्रित करने का फ़ैसला किया, जो एक स्थान पर पाँच-दस वर्ष तक रहकर वहाँ पेड़ लगाते थे और इसके बाद उन्हें किसी अन्य स्थान पर भेज दिया जाता था। अंग्रेज़ों ने इसके लिए उत्तर भारत और भारत के अन्य क्षेत्रों के ऐसे लोगों से सम्पर्क किया, जिनके पास अपने गाँव में खेती के लिए कोई ज़मीन नहीं थी। इन लोगों से यह कहा गया कि सरकार उन्हें खेती के लिए ज़मीन देगी, लेकिन खेतों की मेड़ पर या आस-पास के क्षेत्रों में उन्हें कुछ ख़ास पेड़ लगाने होंगे और उनकी सुरक्षा करनी होगी। बाद में, जब उस क्षेत्र में पेड़ बड़े हो जाएँगे तो उन्हें दूसरे क्षेत्रों में भेजने और वहाँ भी खेती के लिए ज़मीन देने की बात कही गयी। जिन लोगों के सामने यह प्रस्ताव रखा गया, वे अपने गाँवों के सबसे ग़रीब लोग थे, वर्तमान संवैधानिक शब्दावली में इनमें से ज़्यादातर लोग अनुसूचित जातियों (दलितों) और बहुत से लोग अन्य पिछड़े वर्ग की ज़्यादा कमज़ोर जातियों से संबंधित थे। चूँकि इनके पास अपने गाँव में जीविका का कोई साधन नहीं था, इसलिए इनमें से कई लोगों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस तरह, भारत में 'वन टांगिया' प्रथा की नींव पड़ी। यह एक तरह से स्थायी प्रवासन था। अलग-अलग स्थानों से आये कई परिवार एक ऐसे 'गतिशील' गाँव का भाग बन गये, जो पाँच से दस या कई बार पंद्रह वर्षों के अंतराल पर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता रहता था, जिसके पास अपने स्वामित्व वाली कोई ज़मीन नहीं थी और जिसे हर नये स्थान पर वन विभाग की कृपा से खेती की कुछ ज़मीन और जंगल से वनोपजों को लेने की सुविधा मिल जाती थी।

यह माना जाता है कि सबसे पहले 1890 के दशक में ब्रेंडिस के द्वारा भारत में टांगिया व्यवस्था की स्थापना की गयी, और इस तरह का पहला गाँव उत्तर बंगाल में बसाया गया। अंग्रेज़ों द्वारा टांगिया प्रथा उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, कर्णाटक, आंध्र प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश छत्तीसगढ़ आदि प्रदेशों में शुरू की गयी थी। ये लोग एक जगह दस-बारह साल तक जंगल को हरा-भरा बनाने के लिए काम करते और फिर इन्हें दूसरी जगह भेज दिया जाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी यह प्रक्रिया जारी रही। किंतु 1985 में यह प्रथा बंद कर दी गयी। उसके बाद जो गाँव जिस जंगल में बसे थे, वे वहीं बसे रह गये। ऐसे गाँवों की कुल संख्या के बारे में कोई स्पष्ट आँकड़ा नहीं है, इस विषय पर काम करने वाले छत्रपति सिंह के अनुसार पूरे देश में ऐसे गाँवों की संख्या 7000 है। वन विभाग के अनुसार ऐसे गाँवों की कुल संख्या 2474 है।[55]

इस संदर्भ में हम दुधवा नैशनल पार्क में बसे कटइया टांगिया गाँव की स्थिति को एक उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। वर्तमान में यह लखीमपुर ज़िले के पलिया तहसील से 20 किलोमीटर की दूरी पर दुधवा नैशनल पार्क के किशनपुर रेंज में अवस्थित है। यहाँ के लोग पिछली तीन पीढ़ियों से यहाँ रह रहे हैं। इन लोगों ने बताया कि अन्य टांगिया गाँवों की तरह ही कटइया के लोगों को भी अंग्रेज़ों द्वारा इस क्षेत्र में वन लगाने के लिए बसाया गया था। पहले यह गाँव अपने वर्तमान स्थान से 20 किलोमीटर अंदर जंगल की ओर बसा हुआ था, जिसे काँप के नाम से जाना जाता था। इसके बाद अंग्रेज़ों ने इन्हें वहाँ से सात किलोमीटर की दूरी पर विस्थापित करके जहदीताल नामक स्थान पर

[54] म्यांमार में टांगिया व्यवस्था के इतिहास के लिए देखें, रेमंड एल. ब्रायंट (2015).

[55] कमल नयन चौबे (2015क); अशोक चौधरी, रोमा और रजनीश गम्भीर (2009).

बसाया। 1935 से 1940 के आस-पास 43 परिवारों को 84 एकड़ ज़मीन देकर एक गाँव में बसाया गया जो फ़िलहाल कटइया के नाम से प्रचलित है। इनमें से अधिकांश लोग उत्तर प्रदेश के विभिन्न ज़िलों के दलित या अति पिछड़ा जातियों से संबंधित हैं। वर्तमान में यहाँ लगभग 500 घर हैं। इसमें से छह घर मुस्लिमों के हैं, एक घर ब्राह्मण और एक घर बरही (लोहार) का है। शेष सभी घर पासी (दलित) जाति से संबंधित हैं।

इस गाँव के दो सबसे बुज़ुर्ग लोगों ने अपने गाँव की विभिन्न स्थानों की यात्रा के बारे में बताया। लेकिन गाँव वालों के पास यह साबित करने के लिए कोई ठोस दस्तावेज़ नहीं है कि वे इस स्थान पर पिछले 70 वर्षों या उससे ज़्यादा समय से रह रहे हैं। इसके कारण ये ठोस रूप से वन अधिकार क़ानून का प्रयोग करते हुए अपने खेती के ज़मीन के पट्टे या जंगल में सामुदायिक अधिकारों का दावा करने की स्थिति में नहीं हैं। इनके पास मतदाता पहचान-पत्र है। गाँव में बिजली आ चुकी है और अमूमन 24 घंटे में आठ घण्टे बिजली रहती है। गाँव के लोग अपने घर पर चाँपाकल लगवा चुके हैं। अधिकांश लोग आस-पास के क्षेत्रों में दिहाड़ी मज़दूर के रूप में काम करते हैं। गाँव में एक प्राथमिक स्कूल भी है और यहाँ से आठ किलोमीटर दूर माध्यमिक स्कूल स्थित है। इंदिरा आवास योजना के तहत मिली मदद से बहुत से लोगों के घर ईंट के बन चुके हैं। हालाँकि गाँव में शौचालय की स्थिति अच्छी नहीं है और तक़रीबन सभी लोग शौचालय के लिए अपने घर से बाहर खेतों में जाते हैं।

वन विभाग द्वारा इस क्षेत्र को रिजर्व टाइगर ज़ोन बताते हुए यहाँ के लोगों को स्वैच्छिक रूप से गाँव ख़ाली करने का निर्देश दिया गया है। लेकिन इन्हें कोई ठोस विकल्प भी प्रदान नहीं किया गया है। इनके बहुत से खेतों को वन विभाग ने वन भूमि कह कर अपना दावा ठोका है। सबसे ख़तरनाक स्थिति यह है कि इनके जंगल और पार्क से बाहर जाने के रास्ते पर वन विभाग ने एक बड़ा बैरियर लगा रखा है, और यहाँ सड़कों से गुज़रने[56] वाली हर गाड़ी को एक निश्चित राशि वन विभाग के अधिकारियों को देनी पड़ती है। लोग सुबह सात बजे से लेकर शाम सात बजे तक ही इस रास्ते का उपयोग कर सकते हैं। इस समय के अलावा वे इस रास्ते पर दिख जाते हैं तो उन्हें वन विभाग के निचले स्तर के कर्मचारियों को जुर्माना देना पड़ता है। दुधवा नैशनल पार्क के अधिकारी एक ऐसे नैशनल पार्क की परिकल्पना के आधार पर काम कर रहे हैं जो पूरी तरह से मनुष्यों (गाँव के लोगों) की दखलंदाज़ी से मुक्त हो। अमूमन कटइया के लोग भी रोज़मर्रा की कई ज़रूरतों के लिए जंगल

अधिकतर स्थानों पर ग़ैर-अनुसूचित जनजाति के लोगों को वन भूमि पर निजी सम्पत्ति अधिकार मिलने में ख़ासी परेशानी हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस श्रेणी से संबंधित वन निवासी यह साबित करने में असमर्थ रहे हैं कि वे एक ही स्थान पर पिछले 75 सालों से रह रहे हैं। निश्चित रूप से, वन क्षेत्रों को मुख्य रूप से आदिवासियों का निवास स्थान मानने का ख़मियाजा ऐसे ग़ैर-आदिवासी समूहों, विशेष रूप से दलितों को भुगतना पड़ा है, जिनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति आदिवासियों जैसी ही है, या जो कई मामलों में ग़रीबी और हाशियाकरण का सामना कर रहे हैं। राज्य की श्रेणियों और उनसे संबंधित क़ानूनों ने इनकी वंचना को और ज़्यादा गम्भीर बना दिया है। ये न सिर्फ़ अपनी जीविका के अधिकारों से वंचित हुए हैं, बल्कि राज्य द्वारा इन्हें आसानी से विस्थापित किया जा सकता है।

[56] इस भाग का पूरा विवरण जनवरी 2019 में फ़ील्ड-वर्क के दौरान गाँव के लोगों से बातचीत पर आधारित है. इस संदर्भ में सहयोग के लिए मैं अपने शोध-सहयोगी मोहम्मद नौशाद का आभारी हूँ. यहाँ यह बात भी याद रखने की ज़रूरत है कि कई स्थानों पर टांगिया गाँवों

पर निर्भर रहे हैं, लेकिन वन विभाग की सख़्ती के कारण उनके लिए जंगल से कुछ भी लेना नामुमकिन हो चुका है। सबसे ख़ास बात यह है कि यहाँ के अधिकांश वयस्क पुरुषों और महिलाओं पर *वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम 1972* के अंतर्गत मुक़दमे दर्ज किये गये हैं। दूसरे शब्दों में, नैशनल पार्क के अधिकारी इन्हें ऐसे 'संदिग्ध समुदाय' के रूप में देखते हैं, जो अपने फ़ायदे के लिए जंगली जानवरों का शिकार करते हैं या शिकारियों की मदद करते हैं या लकड़ियों को नेपाल के बाज़ार में बेच देते हैं। इस तरह, पूरे कटइया गाँव का 'अपराधीकरण' कर दिया गया है। इन्हें रोज़मर्रा के जीवन में भी दुधवा नैशनल पार्क के अधिकारियों के उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। पार्क के अधिकारी इन्हें वन्य जीवों के लिए ख़तरे के रूप में देखते हैं, और वे यह चाहते हैं कि ये लोग इस स्थान को छोड़कर चले जाएँ।

अब मुश्किल यह है कि इन गाँवों के लोग 'अन्य पारम्परिक वन निवासी' श्रेणी में आते हैं, किंतु यह साबित करने में असमर्थ हैं कि वे एक ही स्थान पर पिछले 75 सालों से रह रहे हैं, या खेती कर रहे हैं। ऐसे में, इन गाँवों के लोग न सिर्फ़ वन अधिकार क़ानून के तहत अधिकार पाने में असमर्थ हैं, बल्कि यह इन्हें स्पष्ट रूप से 'ग़ैरक़ानूनी' की श्रेणी में भी ला देता है।[57]

वन अधिकार क़ानून के लागू होने संबंधी प्रावधानों के अपने अध्ययन में मैंने यह पाया कि अधिकतर स्थानों पर ग़ैर-अनुसूचित जनजाति के लोगों को वन भूमि पर निजी सम्पत्ति अधिकार मिलने में ख़ासी परेशानी हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस श्रेणी से संबंधित वन निवासी यह साबित करने में असमर्थ रहे हैं कि वे एक ही स्थान पर पिछले 75 सालों से रह रहे हैं। निश्चित रूप से, वन क्षेत्रों को मुख्य रूप से आदिवासियों का निवास स्थान मानने का ख़मियाजा ऐसे ग़ैर-आदिवासी समूहों, विशेष रूप से दलितों को भुगतना पड़ा है, जिनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति आदिवासियों जैसी ही है, या जो कई मामलों में ग़रीबी और हाशियाकरण का सामना कर रहे हैं। राज्य की श्रेणियों और उनसे संबंधित क़ानूनों ने इनकी वंचना को और ज़्यादा गम्भीर बना दिया है। ये न सिर्फ़ अपनी जीविका के अधिकारों से वंचित हुए हैं, बल्कि राज्य द्वारा इन्हें आसानी से विस्थापित किया जा सकता है।

V
निष्कर्ष

श्रेणीकरण मानव सभ्यता के साथ जुड़ी हुई परिघटना है, और आधुनिक जीवन में यह अत्यंत जटिल रूप में सामने आयी है। विशेष रूप से लोकतांत्रिक सरकारों का दावा रहता है कि वे इन श्रेणियों के माध्यम से लोगों की भलाई करना चाहती हैं। वे यह सुनिश्चित करना चाहती हैं कि जनसंख्या के विभिन्न समूहों की हिफ़ाज़त हो तथा उन तक कल्याणकारी कार्यक्रम पहुँच पाएँ। लेकिन इन श्रेणियों के माध्यम से राज्य ने इन समूहों को अपने निरीक्षण और नियंत्रण के दायरे में लाने में भी कामयाबी हासिल की है। इसके अलावा, राज्य द्वारा बनाई गयी श्रेणियाँ हमेशा ही कुछ समुदायों का बहिष्करण करके उनके हाशियाकरण को बढ़ावा देती है। इस अध्ययन में यह रेखांकित किया गया है कि छठी अनुसूची, पाँचवीं अनुसूची और वन क्षेत्रों के लिए विशेष प्रावधान बनाने के कारण इन क्षेत्रों में रहने वाले दलितों का हाशियाकरण हुआ है। वे लगातार वंचना का सामना कर रहे हैं। ऐसे कई उदाहरण

के अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी. इन गाँवों के लोगों ने अपने लगातार प्रयासों से वन अधिकार क़ानून के अंतर्गत अपने अधिकारों को मान्यता देने के लिए दबाव बनाया. कई मामलों में प्रशासन ने भी 75 वर्ष की कसौटी को सख़्ती से लागू नहीं किया. यदि कोई गाँव यह साबित करने में भी सफल रहा कि वह एक स्थान पर तक़रीबन 40 साल से रह रहा है, तो वहाँ के लोगों के दावों को स्वीकार कर लिया गया. देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 289-292.

[57] हालाँकि यह भी सच है कि कई स्थानों पर अपने संघर्ष द्वारा वन टांगिया गाँव वन अधिकार क़ानूनों के तहत अपने अधिकार पाने में सफल रहे हैं. लेकिन ऐसे उदाहरण कम ही हैं. देखें, कमल नयन चौबे (2015क) : 289-92.

हैं जिनसे यह पता चलता है कि वे आदिवासी बहुमत वाले गाँवों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हाशियाकरण और बहिष्करण का सामना कर रहे हैं,[58] और मौजूदा संवैधानिक और क़ानूनी संरचना में इनके सामूहिक अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करने तथा बहुमत द्वारा इनकी नियमित उपेक्षा को रोकने का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। इसी तरह, पूरे देश के वन क्षेत्रों में वन अधिकार क़ानून के तहत अधिकारों की दावेदारी करने के लिए इनके सामने तक़रीबन असम्भव-सी शर्त रख दी गयी है। इन्हें यह साबित करना है कि ये दिसम्बर, 2005 के पचहत्तर साल पहले से उसी स्थान पर रह रहे हैं। अधिकांश मामलों में इन क्षेत्रों में रहने वाले दलित भी आदिवासियों की तरह ही विस्थापन, माओवाद और राज्य की निरंतर हिंसा की यातना, वन विभाग के मनमानेपन और जीविका के लिए भयंकर संघर्ष से जूझ रहे हैं। ऐसे में, संवैधानिक-क़ानूनी स्तर पर इनके अधिकारों की उपेक्षा इनकी स्थिति और ज़्यादा दुर्बल बना देती है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि पश्चिम में बहुसंस्कृतिवाद की सैद्धांतिक धारा के उभर कर आने के काफ़ी पहले भारतीय संविधान में बहुसांस्कृतिक रूपरेखा को स्थान दिया गया।[59] संविधान में आदिवासियों के लिए विशेष क्षेत्रों और प्रावधानों का निर्माण इसका उदाहरण है। बहरहाल, आवश्यकता इस बात की है कि आदिवासी क्षेत्रों के रूप में चिह्नित क्षेत्रों में बहुसांस्कृतिक रूपरेखा को ज़्यादा विकेंद्रीकृत रूप से लागू किया जाए, और वहाँ रहने वाले अल्पसंख्यक समूह, विशेष रूप से दलितों के अधिकारों को सुनिश्चित किया जाए। अगर ऐसा नहीं होता है तो आदिवासी क्षेत्रों में रहने वाले दलित दोहरे बहिष्करण का सामना करते रहेंगे, अर्थात् एक तरफ़ राज्य की 'विकास' और संसाधनों के दोहन की नीतियों और वन विभाग के मनमाने व्यवहार के कारण उन्हें विस्थापन के भय और निरंतर उत्पीड़न का सामाना करना पड़ेगा, और साथ ही संवैधानिक-क़ानूनी स्तर पर आदिवासियों की तुलना में उनकी स्थिति हमेशा दुर्बल बनी रहेगी।

संदर्भ

अश्विनी देशपाण्डे (2013), *अफ़र्मेटिव एक्शन इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अशोक चौधरी, रोमा और रजनीश गम्भीर (2009), *ज्वाइंट स्टडी बाइ डब्ल्यू.ई.आई.एल.जी.ओ. ऐंड विकल्प सोशल ऑर्गनाइजेशन ऑन 'द केस स्टडी ऑफ़ ऑफ़ नैशनल फ़ोरम ऑफ़ फ़ॉरेस्ट पीपॅल ऐंड फ़ॉरेस्ट वर्कर्स'.* सितम्बर.

एस.के. चौबे (1973), *हिल पॉलिटिक्स इन नॉर्थ ईस्ट इंडिया,* ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

---

[58] श्रेणीकरण की विडम्बना यह है कि कई समूह ख़ुद को आदिवासी मानने के बावजूद अनुसूचित जनजाति की श्रेणी का भाग नहीं हैं. वहीं कई अन्य समूह एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने पर अनुसूचित जनजाति की अपनी क़ानूनी हैसियत खो देते हैं. मिसाल के तौर पर, असम की मैदानी और पहाड़ी जनजातियों के बीच इसी प्रकार का अंतर किया गया है. इसलिए गारो, कार्बी आदि जैसी पहाड़ी जनजातियाँ मैदानी क्षेत्रों में आने पर अनुसूचित जनजाति की श्रेणी से बाहर हो जाती हैं. इसी प्रकार, बोडो, लुआंग आदि मैदानी जनजातियाँ पहाड़ी क्षेत्रों में जाने पर अपनी 'अनुसूचित जनजाति' की हैसियत खो देती हैं. किंतु ऐसे बहुत से समूह हैं जो एक राज्य में तो अनुसूचित जनजाति हैं किंतु दूसरे राज्य में उन्हें अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्राप्त नहीं है. इसी कारण, किसी दूसरे राज्य में बसने वाले आदिवासियों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्राप्त नहीं होता है और इसके चलते पहले से ही ग़रीबी और वंचना झेल रहे समुदायों को राज्य की उपेक्षा का सामना भी करना पड़ता है. मसलन, असम के चाय बाग़ानों में काम करने वाले संथाल और अन्य आदिवासी समूह तक़रीबन डेढ़ सौ साल पहले वर्तमान झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश से आकर इन राज्यों में बसे. किंतु आज भी इन्हें असम में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया गया। कई मरतबा इस संदर्भ में इनकी माँग को सरकार और प्रभुत्वशाली तबक़ों के दमन का सामना करना पड़ा है. देखें, ग्लैडसन डुंगडुंग (2013) : 33-45.

[59] राजनीति-सिद्धांत में 1971 में जॉन रॉल्स की पुस्तक *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* के प्रकाशन को मील का पत्थर माना जाता है. 1980 के दशक बहुत से विद्वानों ने रॉल्स के तर्कों की इस आधार पर आलोचना की कि इनमें व्यक्ति के समुदाय के साथ जुड़ाव की पूरी तरह से उपेक्षा की गयी है. बाद में, बहुसंस्कृतिवादियों ने उदारतावाद की रूपरेखा के भीतर समुदायवादियों के तर्कों को समायोजित करने का प्रयास किया और उन्होंने समूहों के अधिकारों और व्यक्ति के अधिकारों के बीच संतुलन क़ायम करने के लिए सैद्धांतिक रूपरेखा प्रस्तुत की. इस वाद-विवाद की समझ के लिए देखें, विल किमलिका (1995); (2009).

कमल नयन चौबे (2014), *द फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मार्जिनल सोसायटी,* एन.एम.एल.एल. ऑकेजनल पेपर. पर्सपेक्टिव इन इंडियन डिवेलपमेंट, न्यू सीरीज़-31. नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी, नयी दिल्ली.

——————— (2015क), *जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष,* सीएसडीएस-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

——————— (2015ख). 'इनहेंसिंग पेसा : द अनफ़िनिश्ड एजेंडा', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 50, अंक 8.

——————- (2015ग). 'द पब्लिक लाइफ़ ऑफ़ अ 'प्रोग्रेसिव' लॉ : पेसा ऐंड गाँव गणराज्य (विलेज रिपब्लिक)' *स्टडीज़ इन इंडियन पॉलिटिक्स,* खण्ड 3, अंक 2.

——————- (2016), 'द स्टेट, ट्राइबल्स ऐंड लॉ : द पॉलिटिक्स बिहाइंड द इनेक्टमेंट ऑफ़ पेसा ऐंड एफ़आरए', *सोशल चेंज,* खण्ड 46, अंक 3.

——————— (2017), 'टर्निंग द टाइड इन फ़ॉरेस्ट राइट्स?' *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 52, अंक 1.

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया (1996), *द प्रोविज़ंस ऑफ़ पंचायत्स (एक्सटेंशन टू शेड्युल्ड एरियाज़) एरियाज़ एक्ट 1996. नंबर 40 ऑफ़ 1996,* मिनिस्ट्री ऑफ़ पंचायती राज, नयी दिल्ली.

———————— (2006), *रिपोर्ट ऑफ़ द सब-कमेटी अपाइंटेड बाइ द मिनिस्ट्री ऑफ़ पंचायती राज टु ड्राफ़्ट मॉडल गाइडलाइंस टु वेस्ट ग्राम सभाज विद पॉवर्स ऐज़ इनविसेज़्ड इन पेसा.* मिनिस्ट्री ऑफ़ पंचायती राज, नयी दिल्ली

————————— (2007), *शेड्यूल्ड ट्राइब्स ऐंड अदर ट्रेडिशनल फ़ॉरेस्ट ड्वेलर्स (रिकॉग्निशन ऑफ़ फ़ॉरेस्ट राइट्स) एक्ट 2006,* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स, नयी दिल्ली.

————————— (2008), *डिवेलपमेंट चैलेंजेज़ इन एक्सस्ट्रीमिज़म अफ़ेक्टेड एरियाज़ : रिपोर्ट ऑफ़ द एक्सपर्ट ग्रुप ऑफ़ प्लैनिंग कमीशन,* नयी दिल्ली.

————————— (2010क), *थर्ड रिपोर्ट ऑफ़ द स्टैंडिंग कमेटी ऑन इंटर सेक्टोरल इशूज़ रिलेटिंग टू ट्राइबल डिवेलपमेंट ऑन स्टैंडर्ड ऑफ़ एडमिनिस्ट्रेशन ऐंड गवर्नेंस इन शेड्यूल्ड एरियाज़,* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स, नयी दिल्ली.

————————— (2010ख), *मंथन : रिपोर्ट बाइ नैशनल कमेटी ऑन फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट,* दिसम्बर 2010, अ ज्वाइंट कमिटी ऑफ़ मिनिस्ट्री ऑफ़ फ़ॉरेस्ट ऐंड मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स, नयी दिल्ली.

———————— (2014), *रिपोर्ट ऑफ़ द हाई लेवल कमेटी ऑन द सोसियो-इकॉनॉमिक, हेल्थ ऐंड ऐजुकेशनल स्टेटस ऑफ़ ट्राइबल कम्युनिटीज ऑफ़ इंडिया,* मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स, नयी दिल्ली.

————————— (2020), मिनिस्ट्री ऑफ़ ट्राइबल अफ़ेयर्स वेब पता : https://tribal.nic.in/declarationof5thSchedule.aspx#:~:text=At%20present%2C%20Scheduled%20Areas%20have,%2C%20Maharashtra%2C%20Odisha%20and%20Rajasthan. देखने की तारीख : 28 अप्रैल 2020

ग्लैडसन डुंगडुंग (2013), *व्हूज़ कंट्रीज इज़ इट ऐनीवे? अनटोल्ड स्टोरीज़ ऑफ़ द इंडिजेनस पीपॅल ऑफ़ इण्डिया,* आदिवानी, कोलकाता.

छत्रपति सिंह (1986). *कॉमन प्रॉपर्टी ऐंड कॉमन पॉवर्टी : इंडियाज़ फ़ॉरेस्ट्स, फ़ॉरेस्ट ड्वेलर्स ऐंड द लॉ,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

जेम्स सी. स्कॉट (1998), *सीइंग लाइक अ स्टेट : हाउ सर्टेन स्कीम्स टु इम्प्रूव द ह्यूमन कंडीशंस हैव फ़ेल्ड,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन तथा लंदन.

डी.डी. बसु (2007), *इंट्रोडक्शन टू दि कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ़ इंडिया,* 19वाँ संस्करण, वाधवा ऐंड कम्पनी लॉ पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

नंदिनी सुंदर (2009), 'फ्रेमिंग द पॉलिटिकल इमैजिनेशन : कस्टम, डेमॉक्रैसी ऐंड सिटीज़नशिप', नंदिनी सुंदर (सं.), *लीगल ग्राउंड्स : नेचुरल रिसोर्सेज़, आइडेंटिटी ऐंड द लॉ इन झारखण्ड,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

————— (2011), 'द रूल ऑफ़ लॉ ऐंड सिटीज़नशिप इन सेंट्रल इंडिया : पोस्टकॉलोनियल डायलेमाज़', *सिटीज़नशिप स्टडीज़* (15).

नंदिनी सुंदर, सव्यसाची, नरेंद्र बस्तर, अभय खाखा, कमल नयन चौबे (2018), 'आदिवासी भारत : परिकल्पना, राजनीतिक मुद्दे और चिंताएँ', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति,* वर्ष 6, अंक 12.

नीमा पाठक ब्रूम, शीबा डेसोर, आशीष कोठारी और अरशिया बोस (2014), 'चेंजिंग पैराडाइम इन वाइल्ड लाइफ़ कंजर्वेशन इन इंडिया', शरच्चचंद्रा लेले और अजीत मेनन (सं.), *डेमॉक्रैटाइजिंग फ़ॉरेस्ट गवर्नेंस इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बरनार्ड एस. कॉन और निकोलस बी डर्क्स, (1988) 'बियोंड द फ्रिंज़ : द नेशन–स्टेट, कोलोनियलिज़म ऐंड टेक्नोलॅजीज़ ऑफ़ पॉवर', *जर्नल ऑफ़ हिस्टॉरिकल सोसियोलॅजी,* खण्ड 1, अंक 2.

बी.डी. शर्मा (1998), *द लिटिल लाइट्स इन द टिनी मड–पॉट्स डिफ़ाइ 50 इयर्स ऑफ़ एंटी 'पंचायत' राज,* सहयोग पुस्तक कुटीर ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

———— (2010), *अनब्रोकेन हिस्ट्री ऑफ़ ब्रोकेन प्रॉमिसेज़ : इंडियन स्टेट ऐंड द ट्राइबल पीपॅल,* फ्रीडम प्रेस और सहयोग पुस्तक कुटीर, नयी दिल्ली.

भारत का संविधान (2008), द्विभाषी संस्करण. चौथा संस्करण, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद.

माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1992), *दिस फ़िस्सर्ड लैंड : ऐन इकॉलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

मार्क गैलेंटर (1984), *कम्पीटिंग इक्वैलिटीज़ : लॉ ऐंड द बैकवर्ड क्लासेज़ इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

मिशेल फ़ूको (1991), 'गवर्नमेंटैलिटी', ग्राहम ब्रूचेल, कॉलिन गॉर्डन, और पीटर मिलर (सं.), द *फ़ूको इफ़ेक्ट : स्टडीज़ इन गवर्नमेंटैलिटी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

रेमंड एल. ब्रायंट (2015), 'शिफ़्टिंग अंडर अ कोलोनियल पास्ट', *डाउन टू अर्थ,* 7 जून, वेब पता : https://www.downtoearth.org.in/coverage/shifting-under-a-colonial-past-27568, देखने की तारीख़ : 20 अप्रैल, 2020.

विल किमलिका (1995), *मल्टीकल्चरल सिटीज़नशिप : अ लिबरल थियरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स,* क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

————— (2009), *समकालीन राजनीति दर्शन : एक परिचय* (दूसरा संस्करण), (अनु.) कमल नयन चौबे, पियर्सन, नयी दिल्ली.

संजय निगम (1990), 'डिसिप्लिनिंग ऐंड पॉलिसिंग द क्रिमिनल बाई बर्थ', पार्ट I : द मेकिंग ऑफ़ कोलोनियल स्टीरियोटाइप्स— द क्रिमिनल ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ नॉर्थ इंडिया' *इंडियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 27, अंक 2.

सतीश देशपाण्डे और गीतिका बापना (2008), *दलित इन द मुस्लिम ऐंड क्रिश्चियन कम्युनिटीज : अ स्टेटस रिपोर्ट ऑन करंट सोशल साइंटिफ़िक नॉलेज,* राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, भारत सरकार के लिए तैयार की गयी एक रिपोर्ट.

सुखदेव थोराट (2018) 'पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ कास्ट डिस्क्रिमिनेशन ऐंड एट्रोसिटीज़ : व्हाई डज़ कास्ट डिस्क्रिमिनेशन परसिस्ट डिस्पाइट लॉ?', सूरज येंगडे और आनंद तेलतुम्बड़े (सं.), द *रैडिकल इन आम्बेडकर : क्रिटिकल रिफ़्लेक्शंस,* पेंगुइन, नयी दिल्ली.

सुदीप्त कविराज (1994). 'ऑन द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कोलोनियल पॉवर : स्ट्रक्चर, डिस्कोर्स, हेजिमनी', डैगमर एंगेल्स और शुला मार्क्स (सं.), *कॉन्टेस्टिंग कॉलोनियल हेजिमनी,* ऐकेडमिक प्रेस, लंदन.

सेंसस ऑफ़ इंडिया, 2011. https://censusindia.gov.in/census_and_you/scheduled_castes_and_sceduled_tribes.aspx, देखने की तारीख़ : 24 अप्रैल, 2020.